उद्‌बुध्यध्वं समनसः सखायः

धर्मायण

धार्मिक, सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय चेतना की पत्रिका
अंक : ६६
आषाढ़-भाद्रपद
विक्रमाब्द : २०६१
जुलाई-सितम्बर, २००४ ई0
सम्पादक - मण्डल
आचार्य सीताराम चतुर्वेदी
प्रो0 काशीनाथ मिश्र
महन्त उद्धवदासजी
डा0 श्रीरंजन सूरिदेव
आचार्य किशोर कुणाल
प्रधान सम्पादक
भवनाथ झा
सह - सम्पादक
मार्कण्डेय शारदेय
महावीर मन्दिर प्रकाशन
के लिए
प्रो0 काशीनाथ मिश्र
द्वारा प्रकाशित
तथा
सर्चलाइट प्रेस में मुद्रित
पत्र-सम्पर्क:
धर्मायण,
पाणिनि-परिसर,
बुद्ध-मार्ग,
पटना-800001
मूल्य : दस रुपये

विषयसूची

- **सम्पादकीय** : २
- **हर हर महादेव** : आचार्य सीताराम चतुर्वेदी ७
- **तत्सुख-सुखिता** : डा० युगेश्वर १०
- **वल्लभाचार्य का पुष्टिमार्ग** : विद्यावाचस्पति डा० श्रीरंजन सूरिदेव १४
- **आर्यजीवन-धारा के दो सुदृढ़ किनारे** : प्रो० रामाश्रय प्रसाद सिंह २०
- **भरत और भरद्वाज के आख्यान** : आचार्य किशोर कुणाल २७
- **भगवान् बुद्ध और उनके सन्देश** : डा० एस० एन० पी० सिन्हा ३४
- **परमाक्षर 'एवं'** : जयकान्त मिश्र ४२
- **कवि तुलसी के भक्तिपरक विचार** : डा० कृष्णानन्द प्रसाद 'अभिलाषी' ४५
- **सुखस्य मूलं धर्मः** : डा० रामविलास चौधरी ५४
- **पन्थ और सम्प्रदाय : धर्म के निकट या दूर** : डा० विनोद कुमार सिन्हा ५८
- **'पार्वती-मंगल' की रचना का कालनिर्धारण** : भवनाथ झा ६२
- **श्री रामानन्द का व्यक्तित्व एवं कृतित्व** : डा० कैलाशनाथ द्विवेदी ६६
- **वैदिक संस्कृति : भारत की शाश्वत राष्ट्रीयता** : ब्रजनन्दन प्रसाद सिंह ६९
- **पुरुषोत्तममास-विधान** : भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ७३
- **पाठकीय प्रतिक्रिया** : ७९
- **व्रत-त्योहार** : ८०

सम्पादकीय

आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः

आचरण जीवनयात्रा का महत्त्वपूर्ण साधन है। इस आचरण पर ही जीवन व्यवस्थित रहता है। यदि आचरण के पूर्व सत् लगा है तो जीवन उस पुष्पित तरु के समान सुवासित हो जाता है, जो स्वयं तो सुगन्धित रहता ही है अपने आस-पास को भी सुरभित कर देता है।

सदाचरण की अपनी विशेषता के कारण सदैव समाज में आदृत रहा है। जिनके पास यह दिखाई पड़ता है, लोग उन्हें सिर-आँखों पर बैठाते हैं।

दूसरी ओर जब आचरण के पूर्व 'दुर्' जुड़ जाता है तो उससे लोग दूर भागने लगते हैं। दुराचरण नाली की वह गन्दगी है, जो अपने को दुर्गन्धित करती ही है, पास-पड़ोस को भी दुर्गन्धमय कर देती है।

सदाचरण-दुराचरण दोनों देव-दानव, अमिय-हलाहल और जलज-जोंक की तरह परस्पर विरोधी हैं। इन दिनों में सदा छत्तीस का सम्बन्ध रहा। दोनों एक दूसरे को पराजित करने पर तुले रहे– दोनों में किसी ने हार नहीं मानी। एक ने राम आदि को नेतृत्व दिया तो दूसरे ने रावण आदि को। ये राम-रावण सदाचरण-दुराचरण के प्रतीक हैं, अर्थात् राम-रावण के पहले भी रामत्व-रावणत्व थे और आज भी हैं। जैसे त्रेता के राम-रावण के भी पक्षधर देखे जाते हैं, वैसे अन्य युगों में भी देखे जा सकते हैं।

देव-दानव युद्ध भी इसी का पर्याय कहा जा सकता। इंसानियत और हैवानियत के बीच की लड़ाई को सभी धर्मों के धर्मग्रन्थों में दिखाया गया है।

वास्तव में समाज के निर्माण में, प्रगति में सदाचरण ही उत्तम भूमिका निभाता है। यदि यह नहीं रहे तो समाज समज (पशुओं का झण्ड) बन जाए। इसीलिए अनुशासन एवं शासन की आवश्यकता हुई; इसीलिए राजदण्ड और धर्मशास्त्र बने। राजदण्ड ने जहाँ प्रत्यक्ष रूप अपनाकर लोगों को सही राह पर चलने की आज्ञा दी, वहीं ऋषि-महर्षियों, मुनि-महामुनियों, विशारदों ने मनन-चिन्तन के लिए बौद्धिक राह दी।

सदाचार सदाचरण के और दुराचार दुराचरण के पर्याय हैं। वस्तुतः ये अभिप्राय से समान हैं। केन्द्रीय अर्थ लें तो सदाचरण अन्तस् में स्थानापन्न भाव है, जबकि सदाचार बाह्य कार्यों पर आधारित। तात्पर्य यह कि आचरण में स्वाभाविकता है, जबकि आचार में सामाजिक या शास्त्रीय नियमों के पालना पर तत्परता। इस तरह सदाचार सन्मार्ग है और सदाचरण सन्मार्ग पर चलने की आन्तिरक स्वीकृति।

जैसे शब्द का अर्थ व्यापकता ग्रहण करते हुए केन्द्रीय अर्थ, परिधीय अर्थ से आभिप्रायिक अर्थ तक चला जाता है, वैसे ही आचार भी हो गया है। अब सदाचार-सदाचरण में एक रूपता भी स्वीकार की जाने लगी है। फिर भी सदाचारी की तरह सदाचरणी का प्रायः प्रयोग नहीं होता, जिसका कारण है कि सदाचार तो देश, काल, जाति, धर्म, लिंग, वर्ण पर आधारित कार्यविशेष हैं, जबकि सदाचरण उन सबका सूक्ष्म रूप है। सुगन्धित, सुन्दर फूल यदि सदाचार है तो उसकी सुन्दरता और सुगन्धि सदाचरण। इस दोनों में परस्पर सापेक्ष्य है, इसलिए अभिन्नता जान पड़ती है।

सदाचार सन्मार्ग है और दुराचार कुमार्ग। सन्मार्गी और कुमार्गी दोनों समाज में रहते हैं, पर

एक समाज को सँवारता है तो दूसरा सड़ाता है। कुत्सित आचार किसी व्यक्ति को आगे नहीं बढ़ने देता है और इसीलिए उसकी अप्रतिष्ठा है।

हमारे यहाँ ईश्वरीय अवतार का जो स्थान है, वह भी इसी पर आधारित है। गीता में भगवान् ने स्वयं कहा है–

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।।

अर्थात् सज्जनों की रक्षा के लिए और दुर्जनों के विनाश के लिए धर्म को स्थापित करने के लिए प्रत्येक युग में अवतार लेता हूँ।

यहाँ साधु सदाचारी का और दुष्कृत् दुराचारी का पर्याय है। साधुओं का कार्य ही धर्म है, अतः सदाचार में आई कमी को दूर करने के लिए ही भगवान् अवतरित होते हैं।

वेद, उपनिषद्, पुराण, स्मृतिग्रन्थ एवं अन्य साहित्यिक ग्रन्थों ने सदा मानव को मानव बनने की प्रेरणा दी है। उसे गलत काम न करने की प्रेरणा दी है।

हमारे यहाँ साहित्य की जो प्रतिष्ठा है, उसके मूल में हित है। साहित्य मानवहित की रचना है और इस अर्थ में भारत ने अनेक विध चिन्तन, शैलियों में विद्यमान हितरूपी बीज को प्राप्त कर विश्व में विकीर्ण किया है। कहने का अर्थ यह है कि हमारे साहित्य ने मानव को सदाचारी बनने की सदा प्रेरणा दी है। यह प्रेरणा गुरु के रूप में, मित्र के रूप में या पत्नी के रूप में ही क्यों न हो, पर उसका उद्देश्य एक ही है।

विद्वानों ने वैदिक साहित्य को गुरुवचन, पौराणिक साहित्य को मित्रवचन और रामायणादि अथवा परवर्ती साहित्य को प्रियावचन के रूप में स्वीकार किया है।

आचार्य मम्मट ने काव्य के उद्देश्यों में '**व्यवहार विदे**' भी कहा है। व्यवहार की जानकारी दो तरह से होती है, एक तो जो हमसे बड़े लोग करते हैं और जो हमसे बड़ों ने किया है। हमारे वर्तमान पिता, चाचा, अग्रज, गुरुजन या पास-पड़ोस के लोग जैसा करते हैं, उसका हम नकल करते हैं और वे जिसे मूल्य देते हैं, हम भी वही सीखते हैं। श्रीकृष्ण ने गीता में भी कहा है–

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकः तदनुवर्तते।।

यह आचार की प्रथम पाठशाला है या यों कहें कि यह प्रयोगशाला है। इसकी अध्ययन-सामग्री है, अतीत के महापुरुषों का चरित्र। महापुरुषों का चरित्र सदैव प्रेरणा का स्त्रोत रहता है। वह देश, काल, जाति, धर्म की सीमा में नहीं रहता और इसीलिए उत्तम साहित्य सर्वत्र विख्यात हो जाता है।

साहित्य कान्तासम्मित मार्ग का उपदेशक है, इसलिए वह कोमलतापूर्वक कहता है– **रामादिवत् प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्** (राम आदि की तरह आचरण करना चाहिए, रावण आदि की तरह नहीं)।

राम और रावण, कृष्ण और कंस, युधिष्ठिर और दुर्योधन के चरित्र का मूल्यांकन करने के लिए तत्सम्बन्धी साहित्य का अध्ययन आवश्यक है। इससे यह भी लाभ है कि हम समाज में वर्तमान सदाचारियों और दुराचारियों को भी पहचान लेंगे।

यास्क के अनुसार केवल आचरण की शिक्षा देने के कारण ही नहीं, बल्कि शास्त्रों के अभिप्रायों का संग्रह कर शिष्य की बुद्धि में समाविष्ट करने के कारण गुरु को आचार्य कहा गया है– **आचार्य आचारं ग्राहयति। आचिनोति अर्थान्। आचिनोति बुद्धिम् इति वा** (निरुक्त : प्रथम अध्याय, द्वितीय पाद)। तैत्तिरीय-उपनिषद् के ऐसे ही आचार्य अनुशासन-क्रम में कहते हैं– **यान्यवद्यानि कर्माणि तानि सेवितानि, नेतराणि** (जो पवित्र कार्य बताए गए हैं, उन्हीं का सेवन करना चाहिए, दूसरे का नहीं)। पुनः **यान्यस्माकं सुचरितानि तानि सेवितानि, नेतराणि** (जो हमारे उत्तम आचरण हैं, उन्हें अपनाना चाहिए, दूसरा नहीं)।

आचार्यों ने सदाचार और कदाचार में विभेद प्रकट करते हुए कहा है– **सदाचारो वेद-स्मृत्यादिविहितः तत्र निषिद्धः कदाचारः।** अर्थात् वेदों और स्मृतियों आदि में निर्दिष्ट कार्य सदाचार हैं और निषिद्ध कार्य दुराचार (कदाचार) हैं।

भारतीय संस्कृति वैदिक, औपनिषदिक, स्मार्त एवं पौराणिक धरातल पर टिकी है, पर देश, काल, परिस्थिति एवं कुल के अनुसार कुछ बदलाव भी आता गया है। वेद वाक्य को प्रमाण माननेवाले भारतीय जन ऋषियों, सन्तों-गुरुओं, पूर्वजों का अनुसरण करने लगे और '**महाजनो येन गतः स पन्थाः**' के अनुसार कार्य करने लगे। इस तरह क्षेत्रविशेष कालविशेष, जातिविशेष, कुलविशोष आदि के रूप में आचार का परिष्कार होने लगा। इसके बाद तो वेद वाक्य से बढ़कर लोकाचार अर्थात् लोकपरम्परा को मूल्य दिया जाने लगा– **यद्यपि सिद्धं लोकविरुद्धं नाचरणीयं न करणीयम्।** देश, कुल एवं जाति-धर्म से सम्बद्ध आचरण शास्त्रसम्मत है– **देशानुशिष्टं कुलधर्ममग्रं स्वजातिधर्मं न हि संत्यजेच्च।** महर्षि मनु ने पिता आदि के आचार (कुलाचार) के पक्ष में कहा है–

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः।
तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते।।
(मनुस्मृति : ४.१७८)

महर्षि मनु ने "**धर्मस्य तपसः मूलम् आचारं जगृहुः परम्**" कहकर धर्म और तप की नींव के रूप में आचार को स्थापित किया है तथा इसी के अंग के रूप में जगत् की उत्पत्ति, संस्कारविधि, व्रतों का उपचार, स्नान की उत्तम विधि, विवाह, विवाहों का लक्षण, महायज्ञों का विधान, नित्य श्राद्ध का प्रकार, वृत्तियों का लक्षण, गृहस्थ का नियम, भक्ष्य, अभक्ष्य, शौच, द्रव्यों की शुद्धि, स्त्रियों के धर्म के उपाय, वानप्रस्थ-धर्म, मोक्ष, संन्यास, राजा के धर्म, कार्यो का विशेष निर्णय, गवाहों से पूछने की विधि, स्त्री-पुरुषों के धर्म, हिस्सा बाँटना, जुआ और चोरी आदि से दूर करना, वर्णधर्म, आपत्तिधर्म, प्रायश्चित्त-विधि, विहित-अविहित कर्मों के गुण-दोष की परीक्षा, देश, जाति और कुल की परम्परा के धर्म आदि के बारे में निर्देश किया है। इस तरह ज्ञात होता है जन्म से मरण तक के जो आर्ष विधान हैं, वे ही हमारे आचार हैं, परन्तु वैदिक युग के सारे विधानों का इस कलियुगरूपी कलयुग में हू-ब-हू अनुपालन सम्भव नहीं है, अतः तदाधारित और परिष्कृत सत्पुरुषों के चरण-चिह्नों पर चलना एवं सद्विवेक से किसी सत्कार्य को अपनाना ही सदाचार है।

आज इस आचार का राजनीतिक रूप संविधान के रूप में तथा कर्मचारियों के लिए आचार-संहिता के रूप में देखा जा सकता है। संविधान या आचार-संहिता का जो पालन नहीं करता, वह दण्डनीय होता है। इसलिए सरकारी या संस्थायी नियमों का पालन न करना अपराध माना जाता है। दूसरी ओर धर्मशास्त्रों का उल्लंघन पाप माना जाता है। इस तरह धर्म एवं शासन-सम्बन्धी नियमों का पालन सदाचार तथा उनका उल्लंघन कदाचार है।

श्रेष्ठ आभूषण कहे जानेवाले शील के तेरह रूप माने गए हैं, वे हैं– ब्रह्मण्यता, देवपितृभक्तता, सौम्यता, अपरोपतापिता, अनसूयता, मृदुता, अपारुष्य, मैत्रता, प्रियवादिता, कृतज्ञता, शरण्यता, कारुण्य एवं प्रशान्ति। ये शील आचार ही के अंग हैं। इनसे मानवीय मूल्यों को महत्त्व प्राप्त होता है और मनुष्य राग-द्वेष से ऊपर उठने लगता है। कहा भी गया है–

विद्वेष-राग रहितम् अनुतिष्ठन्ति यं द्विजाः।
विद्वांसस्तं सदाचारं धर्ममूलं विदुर्बुधाः।।

अतः शील और चरित्र को सदाचार में ही देखना चाहिए।

सदाचार की लोक और वेद में इसलिए महत्ता है कि यह शिष्ट समाज के निर्माण में अग्रसर होता है। इसके रहते चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम

और मोक्ष) की स्थिति सुदृढ़ रहती है। इसकी सुदृढ़ता से प्रत्येक व्यक्ति उचित ही करता है, अनुचित की ओर ध्यान ही नहीं जाता। इसीलिए वामन-पुराण में सदाचार की एक वृक्ष के रूप में परिकल्पना की गई है–

धर्मोऽस्य मूलं धनमस्य शाखा
पुष्पं च कामः फलमस्य मोक्षः।
असौ सदाचारतरुः सुकेशिन्
संसेवितो येन स पुण्यभोक्ता।।
(अध्याय : १४.१६)

यहाँ राक्षसराज विद्युत्केशी के पुत्र सुकेशी से ऋषिगण कहते हैं कि हे सुकेशी! सदाचार-रूपी वृक्ष की जड़ धर्म है, इसकी डाली धन है, पुष्प काम है और फल मोक्ष है। जो इस वृक्ष का सेवन करता है, वह पुण्य का भोग करनेवाला होता है।

चूँकि सदाचार और धर्म में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है, एक दूसरे का पूरक है, इसलिए अन्धपंगुन्याय से कहीं धर्म आचार की जड़ है तो कहीं आचार धर्म की जड़। मनु ने आचार को मूल कहा और यहाँ धर्म को कहा गया, अतः कभी गाड़ी पर नाव और कभी नाव पर गाड़ी वाली कहावत समझना चाहिए। आचार की तरह धर्म के अंगों में विविधता भी होती है।

प्राचीन काल में वर्णव्यवस्था और आश्रम-व्यवस्था पर बड़ा बल था। इसलिए तदनुकूल धर्म के अंग भी थे, लेकिन अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, दान, क्षमा, इन्द्रियनिग्रह, शम (शमः चित्तप्रशान्तता) अकृपणता, पवित्रता (शौच) एवं तप– ये दशांग या अन्य आचार्यों द्वारा अन्य रूपों में निर्दिष्ट धर्म सबके लिए थे। आज भी इनका उतना ही महत्त्व है।

अनेकार्थी होते हुए भी 'वृत्त' शब्द आचारण का समानार्थी है और इसका भावात्मक रूप 'वृत्ति' रोजगार का। चूँकि जीवन निर्वाह के लिए कुछ-न-कुछ तो करना ही है, इसलिए उसे भी धर्म से जोड़ा गया है, ताकि अनैतिकता को बढ़ावा न मिले। चोरी या बेईमानी करना उचित नहीं है और न धन संग्रह कर कृपणता अपनाना ही। धनार्जन धर्मपूर्वक हो और धर्मार्थ हो, यही ऋषियों की दृष्टि है।

'**धनात् धर्मः**' का यह अर्थ कभी नहीं होता कि चाहे जिस तरीके से धन कमाएँ और उससे धार्मिक कार्य करें। भला नाली के पानी से भरी बाल्टी को गंगाजी में डुबोकर लाएँ और कहें कि यह पवित्र हो गया तो क्या पवित्र हो गया? '**धनात् धर्मः**' के पहले पात्रता है, पात्रता के पहले विनय है और उसके पूर्व विद्या है। यदि विद्या, विनय और पात्रता से धनागम हो तो उसमें शुचिता है। शुचि धन से ही शुचि धर्म-कर्म को बल मिलेगा और नींव की ईंट बना धर्म अट्टालिका की प्रत्येक ईंट में अपने को देखेगा। कारण यह है कि जड़ों की मजबूती पर ही शाखाओं का विस्तार सम्भव है, इस लिए यह (धन) शाखा कहला सकता है।

आय के अनेक स्रोत हों, गलत नहीं है, बशर्ते उचित हों। इससे अपनी भलाई तो होगी ही, आश्रितों का भी कल्याण होगा।धन अनर्थ नहीं, अर्थ है,बशर्ते मदरहित हो।यह सुखप्रद भी है, इसलिए चाणक्य ने **सुखस्य मूलं धनम्** कहा है।

वृक्ष के तने की सुदृढता जड़ पर और डालियों की सुदृढता तने पर आधारित है। डालियाँ जितनी होंगी, फूलों की भरमार होगी। और फूल जितने होंगे, फलों की अधिकता भी होगी। यदि सदाचार-रूपी वृक्ष की जड़ ठीक है तो सदाचार ठीक रहेगा। यदि धड़ ठीक है तो डालियाँ भी ठीक रहेंगी। डालियाँ ठीक रहेंगी तो फूल और फल भी अच्छे होंगे। जब ये सभी अच्छे होंगे तो इस वृक्ष को लगानेवाला अर्थात् सदाचारी उत्तमता को प्राप्त करेगा ही। उसकी कामनाएँ पूर्ण होंगी। उसे ऐहलौकिक और पारलौकिक सुख की प्राप्ति होगी ही। इसीलिए सदाचार को वृक्ष कहा गया है।

सदाचार की सबसे बड़ी विशेषता है– **आचारो हन्त्यलक्षणम्**– यह न्यूनताओं, अविशेषताओं को दूर कर देता है, ढक देता है। आशय यह है कि यदि कोई दुराचारी का पुत्र या सगा-सम्बन्धी हो तो समान्यतः उसके प्रति भी समाज की दृष्टि वैसी ही होगी, लेकिन सदाचार के कारण समाज की विश्वसनीयता प्राप्त हो सकती हैं। प्रह्लाद और विभीषण इसके प्रमुख प्रमाण हैं। आज के सन्दर्भ में यदि कोई पेटू हो, आलसी, अनपढ़ या अल्पज्ञ आदि हो, पर किसी का सामान नहीं चुराता हो, चुगली नहीं करता हो, बेईमानी नहीं करता, बुरी नजर नहीं हो तो ऐसा व्यक्ति विश्वासपात्र बन सकता है।

ऋषियों के अनुसार देवधर्म, दानवधर्म, सिद्धधर्म, गन्धर्वधर्म, विद्याधरधर्म, किम्पुरुषधर्म, पितरों के धर्म, ऋषियों के धर्म एवं मानवों के धर्म में विभिन्नता है। विभिन्नताओं की भी विभिन्नता हो सकती है और एक-दूसरे के लिए वह अवगुण हो सकती है, पर सदाचार वह कड़ी है, जो सबको जोड़ सकती है; यही अलक्षणों को दूर करना है।

"**परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्**" के उद्देश्य से ही महर्षि व्यास ने पुराणों की रचना की है। इन पौराणिक कथाओं, कथान्तरों में उत्तम-उत्तम चरित और चरित्र हैं, जिनके माध्यम से असत् और सत् का प्रदर्शन करते हुए हमें सदाचरण की प्रेरणा दी गई है। यही कार्य परवर्तियों ने भी किया है। सीखना, समझना तो हमें है।

आज की भौतिकतावादी व्यवस्था में वित्त की माँग बढ़ गई है। अब "**टका धर्मः टका कर्म टका हि परमं तपः।**" हो गया है, पर वित्त के समक्ष वृत्त का अवमूल्यन भले हो गया हो, फिर भी नकारा नहीं जा सका है। एक चोर को भी विश्वसनीय मित्र की आवश्यकता होती है, एक दुराचारी भी अपने यहाँ उत्तम व्यक्ति को स्थान देता है; यह है सार्वकालिक और सार्वदेशिक सदाचार की प्रतिष्ठा। नीति-विशारद विदुरजी ने इसीलिए कहा है–

वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् वित्तमेति च याति च।
अक्षीण वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतोहतः।।
गोभिः पशुभिरश्वैश्च कृष्या च सुसमृद्धया।
कुलानि न प्ररोहन्ति यानि हीनानि वृत्ततः।।
(विदुरनीति : ४.३०-३१)

अर्थात् सदाचार की यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए। धन तो आता-जाता रहता है। जो धनहीन है वह बर्बाद नहीं है, पर जो आचरणहीन है वह बर्बाद है। जो कुल सदाचार से रहित हैं, वे गाय, घोड़े आदि पशुओं तथा हरी-भरी खेती से सम्पन्न होकर भी उन्नति नहीं कर सकते।

दुराचारी कितना भी प्रबल हो और सदाचारी कितना भी निर्बल, पर लोग सदाचारी की ही हृदय से प्रशंसा करते हैं। डर, लालच के कारण भले ही लोग ऊपर से दुराचारी की जय बोलते हों, बड़ाई करते हों, पर हृदय से धिक्कारते ही हैं। रावण के साथ भी यही हुआ और आज भी यही होता है।

आज सदाचार पर अधिक आक्रमण हो रहे हैं, इसे निर्मूल करने का सतत उपाय हो रहा है, पर यह दूब की तरह है। यह समाप्त नहीं होगा। इसकी जड़ जमीन में है। लोक में कुव्यवस्था की बाढ़ आई है, सदाचार मिटा नहीं और मिटेगा नहीं। दानवों से देव और मानव तबाह होते आए हैं, समाप्त नहीं। देवत्व और मानवत्व की रक्षा के लिए हमें घृणित, निन्दित और अनुचित कार्यों से परहेज करना होगा और समादृत, स्तुत सर्वथा उचित आचरण की शुद्धि पर ध्यान देना होगा; यह सार्वकालिक, सार्वदेशिक एवं सार्ववैयक्तिक माँग है; क्योंकि आचरण शुद्धि के अभाव में सारे कार्य, ज्ञान, वैदुष्य, नैपुण्य व्यर्थ हैं–

आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः (आचरणहीन को वेद भी पवित्र नहीं कर सकते)।

हर हर महादेव

आचार्य सीताराम चतुर्वेदी

सती के साथ हिमालय पर : शिवपुराण के अनुसार दक्ष की पुत्री सती के साथ शिव का विवाह तो हो गया, पर वे कहीं एक ठौर पर जमकर रहते नहीं थे। कभी पेड़ के नीचे पहुँचे तो वहीं बैठ रहे, कोई गुफा देखी तो उसी में जा लेटे। पच्चीस वर्षों तक वे ऐसे ही इधर-उधर मस्ती लेते रह गए।

एक दिन सती ने उनसे कहा– “बोलिए! इतने दिन हो गए आप घर-बारी होकर भी कहीं एक ठिकाना बनाकर नहीं रहते। अब आप कोई घर बनाइए, क्योंकि यहाँ दिन-रात पानी बरसता है, बादल छाए रहते हैं, जो मुझे फूटी आँखों नहीं सुहाते।”

शिवजी ने ढाढस बँधाया– “लो, यह कौन बड़ी बात है? हिमालय, कैलास या काशी जहाँ कहो वहाँ तुम्हारे लिए ऐसा बढ़िया भवन खड़ा कर दूँ, जहाँ कहीं बादलों की छाँह तक न दिखाई पड़े। जहाँ चाहो वहाँ सुख से घूमना-फिरना और हाँ, सुमेरु पर्वत देखा है न? वहाँ तो बादल का नाम भी सुनाई न पड़ेगा।”

सती ने कहा– “हिमालय से बढ़कर कोई दूसरा ठौर मुझे भाता नहीं। हरियाली की हरियाली और बारह मास ठण्डक-ही-ठण्डक। बस, आपके साथ वहीं चलकर रहा जाएगा।

शिवजी के तो बाएँ हाथ का खेल था। वे बात की बात में कैलास जा पहुँचे और वहाँ उन्होंने बड़ा भारी भवन बनवा खड़ा किया, जहाँ बारह मास आनन्द-ही-आनन्द रहता था। उसका नाम ही कैसाल (कैल= आनन्द, आस= स्थान, आनन्द-ही-आनन्द का स्थान) था। बस, वहाँ पहुँचकर शिव और सती आनन्द के साथ रहने लगे। और फिर महादेवजी तो यों ही आनन्द-ही-आनन्द हैं, फिर वहाँ आनन्द का क्या पूछना! वहाँ रहकर उन्होंने सती के पूछने पर संसार भर की जितनी विद्याएँ थीं, दर्शन तो क्या, काव्य-शास्त्र तो क्या, ज्योतिष तो क्या, आयुर्वेद तो क्या, संगीत तो क्या, साबर-मन्त्र, यन्त्र-तन्त्र सब कुछ सती को समझा सिखाया। उधर सती भी पूछे चली जा रही थीं और महादेवजी थे कि बड़े प्यार से उन्हें सब समझाते चले जा रहे थे। कोई ऐसी विद्या न बच रही, जो उन्होंने सती को सुना, समझा, पढ़ा, सिखा न दी हो। दूसरा और वहाँ काम ही क्या था?

एक दिन शिवजी को क्या सूझी कि सती को अपना गोलोक ले जा दिखाया। उन्होंने झट विश्वकर्मा को बुलवा भेजा और कहा– “अरे भाई! हमारी गोशाला तो बना खड़ी करो।” विश्वकर्मा ने चुटकी बजाते सैकड़ों गौओं से भरी हुई गोशाला बना खड़ी की, जिसमें एक ओर एक बढ़िया सिंहासन बना धरा। फिर उन्होंने सब देवताओं, ऋषियों, सिद्धों, गन्धर्वों और अप्सराओं को न्यौत दिया। यह समझ लीजिए कि ऐसा कोई न बच रहा, जिसे उन्होंने न्यौत न बुलवाया हो।

सबका आना था कि वहाँ गाने-बजाने, वेदपाठ और जय-जयकार से सारा आकाश गूँज उठा। इतने में विष्णु भी वहाँ आ पहुँचे। शिवजी ने झट

उनका हाथ पकड़कर उन्हें सिंहासन पर ले जा बैठाया और उन्हें एक मुकुट उठा पहनाया। फिर सबको सुनाते हुए उन्होंने कहा– “देखो, सब लोग कान खोलकर सुन लो। मुझमें और इनमें रत्ती भर भी दुराव, छिपाव, अलगाव नहीं है। मैं इन्हें बहुत-बहुत प्यार करता हूँ। मुझे और इन्हें दोनों को एक समझो और सब इन्हें प्रणाम करो।” फिर उन्होंने वेदों से कहा– “अरे भाई! चुप क्यों बैठे हो? इनकी कीर्ति गाओ न!” वेद भी उनका यश गाने लगे।

यह सब हो चुकने पर उन्होंने विष्णु से कहा– “देखिए! जो आपकी बुराई करेगा, उसे मैं ठिकाने लगा दूँगा और आपके भक्तों को तो मैं बिना पूछे मोक्ष देता ही रहूँगा, क्योंकि सबको उपजाने, पालने और समेट लेनेवाले आप ही तो हैं। जहाँ तक मेरे रुद्र रूप की बात है, वह तो मेरा हृदय ही है। उस रुद्र की तो आप और ब्रह्मा दोनों ही पूजा करते रहेंगे और यह जहाँ मैंने गोलोक बना खड़ा किया है, यह सारे ब्रह्माण्ड का गोलोक बन जाएगा।” विष्णु को तो वह गोलोक ऐसा अच्छा लगा कि वे झट गोपाल बन गए और सब गोप-गोपियों को लेकर वहीं आ बसे।

एक और नई बात हुई कि जब से सती के साथ शिवजी कैलास पर आ रहने लगे, तब से हिमालयराज की पत्नी मेना को उनसे ऐसा प्रेम हो गया कि वे सती को अपनी बेटी-जैसा मानने लगीं और बड़े मन से उनकी सेवा करने लगीं।

सती का परित्याग : श्रीमद्‌भागवत के अनुसार एक बार ब्रह्मा की सभा में जब उनके पुत्र, पौत्र और महर्षि लोग आए बैठे थे, उसी समय ब्रह्मा के ज्येष्ठ पुत्र दक्ष भी वहाँ आ पहुँचे। उन्हें आया देखते ही ब्रह्मा और शिव को छोड़कर सब अपने-अपने आसन से उनके स्वागत के लिए उठ खड़े हुए। ब्रह्मा तो पिता ही थे, किन्तु शिव को बैठे देखकर दक्ष बिगड़ खड़े हुए। उन्होंने तत्काल सबको सम्बोधित करके क्रोध-भरे स्वर में कहा– “यह बड़ा निर्लज्ज मूर्ख सब लोकपालों का अपमान किए डाल रहा है। इसने मुझे देखकर भी न प्रणाम किया और न मेरे स्वागत के लिए उठा।” उन्होंने झट हाथ में जल लेकर शिव को शाप दिया– “इन्द्र, विष्णु आदि देवताओं के साथ किसी यज्ञ में इसे भाग न मिले, क्योंकि यह देवताओं में सबसे अधम है।” वहाँ बैठे हुए बहुत से देवताओं और महर्षियों ने बहुत रोका भी परन्तु दक्ष ने किसी की एक न सुनी और शाप देकर शिव की ओर आँखें तरेरते हुए अपने भवन की ओर चले गए।

भगवान् शंकर के मुख्य गण नन्दीश्वर ने जब यह शाप की बात सुनी, तब वे बहुत उत्तेजित हो उठे और उन्होंने दक्ष को और उनके समर्थकों को भयंकर शाप दिया– “जो भी कोई कृपासागर महावेदजी से द्वेष करे, उसे कभी सत्त्व का ज्ञान न हो। उसकी बुद्धि वेदविहीन होकर सांसारिक कार्यों में फँसी रहे। वह सदा झूठे घमण्ड में भरा रहे। उसकी बुद्धि में कभी परम तत्त्व न आए, उसका मुख बकरे का हो जाए। शिव से द्वेष करनेवाले ब्राह्मण सब कुछ खाने-पीने लगें और भिखारी बने हुए पृथ्वी पर भटकते फिरने लगें।”

यह सुनकर ब्राह्मणों के अगुआ भृगुजी ने भी शाप दिया– “शिव की पूजा करनेवाले पाखण्डी हो जाएँ, वे अपवित्र होकर जटा और भस्म धारण करके पाखण्डी बने रहें।”

यह सब देखकर शिव बहुत दुःखी हो उठे और वे अपने सब गणों को साथ लेकर वहाँ से निकले चले गए। चलते समय शिवजी ने नन्दीश्वर से कहा– “तुम्हें इतना क्रोध नहीं करना चाहिए था। तुमने ब्राह्मणों को बिना समझे शाप दे दिया। इतना क्रोध करना ठीक नहीं है।” सबको साथ लेकर भगवान् शंकर कैलास चले गए।

भगवान् शंकर तो मनमौजी ठहरे। एक दिन वे सती को साथ लिये विन्ध्याचल के दक्षिण में महर्षि अगस्त्य के आश्रम में जा पहुँचे। वहाँ भगवान् राम की कथा सुनकर वे लौट ही रहे थे कि मार्ग में वे देखते हैं कि सीता के वियोग में भगवान् राम व्याकुल होकर लक्ष्मण के साथ सब लताओं और वृक्षों से जानकी का ठिकाना पूछते फिर रहे हैं। उन्हें उस दशा में देखकर शिव ने दूर से ही "**जय सच्चिदानन्द**" कहकर अत्यन्त रोमांचित और गद्‌गद होकर प्रणाम कर लिया और बहुत देर तक उसी आनन्द में मग्न हुए रस लेते रहे।

सती को बड़ा विस्मय हुआ कि सारा संसार तो मेरे पति महादेव की वन्दना किया करता है, फिर इन्होंने राजकुमारों को "**जय सच्चिदानन्द**" कैसे कह दिया? और फिर ये इतने आनन्द-विभोर क्यों हुए पड़ रहे हैं? वे सोचने लगीं कि यदि ये राजकुमार कोई अवतार हैं तो ऐसे व्याकुल बने सबसे अपनी पत्नी का ठिकाना क्यों पूछे ले रहे हैं? शिव उनके मन की बात ताड़ गए और बोले– "अभी अगस्त्य के आश्रम में तुमने राम की कथा सुनी है, फिर भी तुम्हारे मन में यह भ्रम क्यों उठ खड़ा हुआ?"

भगवान् शंकर ने बहुतेरा समझाना चाहा, पर सती के मन में कोई बात जम नहीं पाई। अन्त में शिव ने उनसे कहा– "यदि मेरी बात तुम्हारी समझ में न आ रही हो तो जाकर तुम्हीं परीक्षा कर आओ। मैं तब तक यहीं इस बड़ की छाया में बैठा तुम्हारी बाट देखता हूँ।"

सती ने आव देखा न ताव, झट सीता का रूप बना बैठी और उधर जा पहुँची, जिधर राम और लक्ष्मण सीता को ढूँढते फिर रहे थे। लक्ष्मण तो नहीं समझ पाए, पर राम झट ताड़ गए और उन्होंने दोनों हाथ जोड़कर सती को प्रणाम करते हुए कहा– "आप अकेली कैसे हैं? भगवान् शंकर को कहाँ छोड़ आईं?" यह सुनते ही सती पर तो घड़ों पानी पड़ गया। वे पानी-पानी हो गईं और झटके से मुड़ चलीं। पर अब तो जिधर वे घूमें उधर ही राम, लक्ष्मण, जानकी दिखाई पड़ें। वे आँख बन्द करके वहीं धम्म से बैठ गईं। बहुत देर बीतने पर उन्होंने आँखें खोलीं तो देखती क्या हैं कि न सीता हैं, न राम हैं, न लक्ष्मण हैं। वे उठीं और चुपचाप शिव के पास लौट आईं।

शिव ने पूछा– "कहो; परीक्षा ले आईं?" सती ने बड़ी हिचकिचाहट के साथ कहा– "परीक्षा क्या लेनी थी? आपने जो कहा वह क्या झूठ हो सकता था? इसलिए मैं भी उन्हें वैसे ही प्रणाम करती आई, जैसे आपने किया था।"

पर महादेव के दिव्य नेत्रों से क्या वह सब कुछ छिपा रह सकता था? उन्होंने तत्काल मन में निश्चय कर लिया– "सती ने मेरी वन्दनीया सीता का रूप धारण कर लिया, इसलिए अब वे मेरी पत्नी तो रह नहीं सकतीं।" तत्काल आकाशवाणी हुई– "भगवान् शंकर! आपकी जय हो। आपको छोड़कर कौन इतना कठोर निश्चय कर सकता है?"

सती पूछती ही रह गईं कि आपने क्या निश्चय किया है, पर शिव ने कुछ भी न बताया। पर सती समझ गईं कि भगवान् शंकर ने मेरा परित्याग कर दिया है। शिव मार्ग भर सती को बहुत-सी कथाएँ सुनाते रहे, पर अपना निश्चय उन्हें नहीं बताया और वे कैसाल पर पहुँचकर समाधि लगाकर जा बैठे। समाधि से उठने पर शिव ने सती को अपने पास न बैठाकर उनके बैठने के लिए अपने सामने आसन बढ़ा दिया। वे अत्यन्त अनमने भाव से उस आसन पर जा बैठीं।

तत्सुख-सुखिता

डा० युगेश्वर

कथा प्रसिद्ध है कि एक बार श्रीकृष्ण के सिर में दर्द होने लगा। वे सिरदर्द से बेचैन हो गए। कृष्ण सामान्य तो नहीं, अतः उनका सिरदर्द भी असामान्य था। कोई उपचार काम नहीं कर रहा था। तब भारत दूसरे युग में था। रोगी का इलाज दवा, तन्त्र, ज्योतिष, दुआ इन चार पद्धतियों से होता था। उसी में किसी ने कृष्ण के सिरदर्द का अनोखा उपचार बताया। अनोखी बात प्रायः नारदजी बताते हैं। नारदजी ठहरे घुमक्कड़; पर्यटकों के आदि आचार्य। सदा तीनों लोकों में घूमा करते थे। श्रीकृष्ण-परिवार में भी प्रायः आया-जाया करते थे। उन्होंने देखा कि श्रीकृष्ण का सिरदर्द सम्पूर्ण द्वारका का सिरदर्द हो गया है। श्रीकृष्ण की पीड़ा सबको पीड़ित किए है। अनेक उपाय किए गए, किन्तु सफलता का नाम नहीं है।

‘उनके’ दुःख से दुःखी होना और ‘उनके’ के सुख से सुखी होना दोनों एक ही भाव हैं और यदि यह भाव प्रिय एवं प्रिया के बीच हो तो वह दिव्यप्रणय में परिणत हो जाता है। राधा-कृष्ण की कथा के आधार पर इसी **तत्सुखसुखिता** की व्याख्या प्रस्तुत है। –सं०

पता नहीं कहाँ से नारदजी को किसी ने बताया कि श्रीकृष्ण भगवान् हैं। नारदजी इससे सहमत हुए– हाँ, यह तो निर्विवाद है कि श्रीकृष्ण भगवान् हैं, किन्तु सिरदर्द से भगवान् का क्या सम्बन्ध है? इतना ही कहा जा सकता है कि भगवान् को भी सिरदर्द होता है। शायद ही कोई ऐसा हो, जिसे सिर न हो। सिर है तो सिरदर्द भी होगा ही। कुछ लोग दूसरों के लिए सिरदर्द होते हैं।

कुछ लोग अपने लिए सिरदर्द मोल ले लेते हैं। उसी में सिर खपाने लगते हैं। अनेक वैद्य, तान्त्रिक आदि सिरदर्द की दवा देने के लिए सिर खपा रहे थे। बड़े-बड़े ज्योतिषियों का सिर चकरा रहा था। ज्योतिष शास्त्र साधारण मनुष्य के लिए बना है। भगवान् तो किसी भी ज्योतिष से ऊपर हैं। उनकी तो दिव्य ज्योति है।

तो; भगवान् श्रीकृष्ण के सिरदर्द की अनोखी दवा नारदजी बताई– कोई अपने चरणों की धूल भगवान् श्रीकृष्ण के माथे पर मल दे। उनका सिरदर्द दूर हो जाएगा।

विकट स्थिति थी। श्रीकृष्ण के सिर पर धूलि? इसकी तो कल्पना भी पाप है। भला कौन होगा, जो अपने पैरों की धूल भगवान् के सिर पर रखेगा? भगवान् तो सब के पूज्य हैं। पूज्य की पूजा की जाती है।

नारदजी श्रीकृष्ण की सभी रानियों, पटरानियों के यहाँ घूम आए। कोई भी धूल देकर पापिनी बनना नहीं चाहती थी। किसी-किसी ने नारदजी को पागल घोषित किया तो किसी ने कहा– दासीपुत्र और सोच ही क्या सकता है? चरणधूल ही दासी की शोभा है।

नारदजी एक जन्म में दासी पुत्र थे। किन्तु नारदजी पर इन बातों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वे दृढ़चित्त हो सबसे चरण धूल माँग रहे थे।

कोई पूछ सकता है, इतना घूमने की क्या आवश्यकता थी? नारदजी ने स्वयं अपने चरणों

की धूल क्यों नहीं दी। क्या वे भी पाप से, नरक जाने से डरते थे? सम्भव है, डरते हों। नरक जाना किसे अच्छा लगता है? किन्तु यह बात थी नहीं। धूल किसी प्रियतमा की होनी चाहिए। नारदजी दिन भर श्रीकृष्ण के राजमहल में चक्कर लगाकर थक गए। उन्हें किसी प्रियतमा की चरण धूल नहीं मिली। वे मथुरा आए। नगरप्रवेश के पूर्व ही लौट गए। क्यों जाते मथुरा? मथुरा तो सूनी हो चुकी थी। कुब्जा का क्या भरोसा? पहले राजा कंस को चन्दन लगाती थी। अब शायद राजा जरासंध के किसी सेनापति को चन्दन लगाती हो। नारदजी को कुब्जा की चरणधूल के प्रति श्रद्धा और आस्था भी नहीं है। वे सीधे गोकुल, बरसाने आ गए। राधा रानी के यहाँ पहुँचे।

राधाजी को कुछ कहना न पड़ा। वे पहले से जानती थीं कि श्रीकृष्ण के सिर में दर्द है। उस समय राधा रानी का सिर भी दुख रहा था। श्रीकृष्ण का सिरदर्द उनका भी सिरदर्द बन गया था। वे बारबार अपने भीतर कृष्ण के सिरदर्द का अनुभव कर रही थीं। ऐसा न होता तो वे श्रीकृष्ण-प्रेम का अनुभव कैसे करतीं? राधा और कृष्ण का मन मिला था। एक की अनुभूति दूसरे की अनुभूति थी।

नारदजी को देखते ही बोलीं– नारदजी, आप बड़े समय से आए हैं। ये मेरे चरणों की धूल लीजिए। इसे ले जाकर प्रियतम (कृष्ण) के सिर पर मल दीजिए। वे सुखी हों। उनका सुख ही मेरा सुख है। मुझे चाहे जो कहो। जैसा भी नरक मिले। कोई चिन्ता नहीं। मेरे नरक भोगने से प्रियतम श्रीकृष्ण को स्वास्थ्यलाभ हो, इससे बढ़कर राधा का और कौन-सा सुख है?

राधा रानी में अपना कोई स्वार्थ न था। वे सम्पूर्ण रूप में कृष्णमय थीं। कृष्णार्पित व्यक्तित्व। श्रीकृष्ण का सिरदर्द राधा की परीक्षा ले रहा था। कृष्ण तो स्वयं भक्तों की चरणधूल के लिए व्याकुल रहते हैं। भक्त ही तो भगवान् का इष्ट है। "**.....इष्टोऽसि**।" अर्जुन भी इष्ट था। राधा भी इष्ट हैं। राधा आधा कृष्ण ही हैं। ऐसे में धूल का क्या महत्त्व है। कृष्ण ने सिरदर्द के व्याज से प्रिया की चरण धूल मँगा ली।

राधा के पाँव पर लोटनेवाले को राधा के चरणों की धूल मिल गई। द्वारका में वृन्दावन की धूल मिल गई। गोधूलि की धूल। अपने बछड़ों के वात्सल्य में हुंकारती, दौड़ती गोचरणों की धूल। घनश्याम को देख नाचते मयूर के चरणों की धूल। विहारभूमि की बालुका-राशि पर थिरकती, पसीना पोंछती, कृष्ण को पुकारती गोप-कुमारियों के चरणों की धूल। कृष्ण की त्रिभंगी मुद्रा से मर्दित धूल ने द्वारका के राज-राजेश्वर को पवित्र कर दिया। कृष्ण की विवशता है। वे द्वारका छोड़ नहीं सकते; द्वारका से जा नहीं सकते। कुछ ही समय के लिए द्वारका छोड़ा कि शत्रुओं के आक्रमण शुरू हो गए।

व्रज की, राधाचरणों की, चुटकी भर धूल ने 'राधा-रज' ने द्वारका को पवित्र कर दिया। कृष्ण नहला उठे। तन-मन सराबोर। धूल-स्नान। जमुना-जल-जैसी पवित्र धूल। रजस् –यह सनातन धूल। आज भी राधाचरण कृष्णकपाल को उत्तेजित कर रही है। झूलो न प्रिय!

अब तक न जाने कितने खेल हुए हैं, इस धूल के वक्ष पर। यह धूल रास में थिरकते पदों से पवित्र हुई है। इसने कान्हा की बाँसुरी सुनी है। बलराम ने अपने हल की नोंक से इसे खोदा है। चिह्नित किया है। इसे सूर्यतनया के जल का स्पर्श प्राप्त है। यह राधा पैरों में लिपटती है। मान भंग करती है। कुंज-कुंज में कृष्ण को खोजने के लिए विवश करती है।

प्रिय कृष्ण! तुम्हीं तो हो!! रास चरम पर पहुँच रहा था। तभी राधा को उठा लिया था। वन के अँधेरे में गायब हो गए थे। दुखी गोपियाँ धूल पर तुम्हारे चरणचिह्नों को देख रही थीं। राधा के चरणचिह्न अदृश्य हो गए थे। वे तो प्रिय के कन्धों पर थीं। बालक्रीड़ा हो रही थी। राधा के दोनों कोमल-कान्त पद कृष्ण के वक्ष पर थे। कृष्ण प्रसन्न

थे। राधा कान्हा के कन्धों पर हैं। वे प्रिया के कोमल चरणों की अनुभूति से रोमांचित हो रहे थे।

राधा को प्रथम बार असली श्रृंगारसुख मिला था। वे प्रिय के कन्धों पर बैठी अपने को धन्य समझ रही थीं। अँधेरे में भी विद्युत्-प्रवाह ने उजाला कर दिया था। बाहर-भीतर सर्वत्र उजाला। प्रेम का प्रकाश। सुख एक। सुखी दो। एक दो बना। दो अनन्त हो गए।

सुख संग्रह नहीं, बाँटने के लिए है। सुख को बाँटो। बहता पानी निर्मल होता है। बँटता सुख और सुखकर हो जाता है। वामन विराट् बन जाता है। राधा-कृष्ण ने अपना सुख एक दूसरे को बाँटा था। गोपियों, ग्वाल-बाल, नन्द-यशोदा, गाय-बछड़ों को दिया था।

सुख का विस्तार हुआ। तब से आज तक न जाने कितने ही, हम सभी राधा-कृष्ण के सुख से सुखी हैं। उसी सुख में शुष्क चर्म का मृदंग बज रहा है। धातुओं के वाद्य झनकार कर रहे हैं। एक बाँस। बाँस की करामात देखिए। छोटा-सा हरा असंख्य, अनन्त में हरियाली भर रहा है। वृन्दावन की वंशी न जाने कब से दिग्दिगन्त को सुख, सौन्दर्य एवं औदार्य दे रही है। जड़ बाँस चेतन की नस-नस को प्रसन्न कर रहा है।

लोग समझते हैं। ठीक समझते है। राधा-कृष्ण का प्रेम ऐकान्तिक है। व्यक्ति से व्यक्ति का है। किन्तु यह ऐकान्तिक, व्यक्तिमूलक प्रेम अनन्त बनता, बनाता है। एक अनेक हो जाता है। अन्त अनन्त बन जाता है। राधा और कृष्ण दोनों एक दूसरे के सुख से सुखी हैं।

मथुरा में सुखों का संग्रह था। मथुरा के जन्मे कृष्ण सुख बाँटने ही गोकुल आए थे। राजधानी में सुख बँटता नहीं, सिमटता है। परार्थ से स्वार्थ बन जाता है। पति-पत्नी का सुख परिवार बना। परिवार था। परिवार हो गया। लघुतम महत्तम का अंग है। महत्तम में लघु की असंख्या समाहित है। परिवार तत् सुख का प्रथम केन्द्र है। माता भारी पीड़ा में है। यह पीड़ा ही सन्तानसुख है। कराहती माँ अपनी पीड़ा भूली है। 'बच्चे ने खाया या नहीं' की चिन्ता में है। लाख कष्ट उठाकर सन्तान-पालन माँ का सुख है। स्वयं भूखी रहकर बालक को खिला रही है। बैठी है। प्रतीक्षा में है।

पति के खाने के बाद ही खाएगी। पति का सुख पत्नी का सुख है। पति उदास है। आज उसने पत्नी की आँखों में उदासी देखी है। बच्चे के मुख पर आँसुओं के सूखे चिह्न ने पिता को व्याकुल कर दिया है। वे अशान्त हैं। अपनी कमाई का सबसे बड़ा भाग सन्तान को। सन्तान वह बने जो मैं नहीं बन सका। लाल मेरी लालसा पूर्ण करे। माता-पिता अपना सुख सन्तान में बाँट रहे हैं। सन्तान उनके सुख की उपज है। माता-पिता का सुख सन्तान में साकार हुआ है।

माता पार्वती की मैल से भगवान् गणेश साकार हुए थे। गणपति माता मैल के विग्रह हैं। माता ने ही उस विग्रह में प्राण समाहित किया था। दुग्ध से अन्दर, बाहर भिंगोया था। पिता का आशीर्वाद ने गणेश को देवताओं का अग्र बनाया। शिवशंकर का मंगल जग-मंगल हो गया। नन्द-यशोदा ने कंस का भय त्याग कर कृष्ण को पाला था। कृष्ण यशोदा के न आत्मज थे, न क्षेत्रज। किन्तु सब कुछ थे।

हमारा सम्पूर्ण जीवन तत्सुख पर आधारित है, इस बात को पुरुष की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक समझती हैं। परदुःख-कातरता भी तत्सुख है। गीता के अर्जुन में परदुःख-कातरता है। कामायनी की श्रद्धा मनु को दूसरों को सुखी बनाने का उपदेश देती है। अवतार और अहिंसा में भी पर दुख-कातरता एवं परसुख है। राम ऋषि के दुख से दुखी हैं। राम, सीता के जीवन में कौन-सा सुख है! वे तत्-सुख में स्वयं सुख भोगते हैं। तत् सुख का सुख सेवा से आगे बढ़ता है। सेवा कठिन साधना है। हनुमान् का सम्पूर्ण जीवन परसुख के लिए है। प्रेम में, भक्ति में देना है। लेना कुछ भी नहीं है।

भक्ति तत् सुख का धर्म है। इस सुख में सबका हित है। दूसरे की सम्पत्ति देख ईर्ष्या नहीं, प्रसन्नता होती है। मन में समता रहती है। ऐसा व्यक्ति सबका गुण ग्रहण करता है। दूसरों के लिए

संकट सहता है। उसे रामप्रेम के अतिरिक्त कुछ नहीं चाहिए।

कृष्णप्रेम में राधा को स्वर्ग-नरक का बोध नहीं था। वे केवल कृष्ण को जानती थीं। अनेक देशभक्तों ने स्वतन्त्रता के लिए मृत्यु का वरण किया। भारत की स्वतन्त्रता मेरे जीवन से अधिक आवश्यक है। त्रिजटा ठीक कहती है– **सीतहि सेइ करहु हित अपना**। आदर्श के लिए मरना सबसे बड़ा सुख है। जीवन भोग नहीं, योग है। सृष्टि-मात्र की सेवा ही योग है। सीता माता की सेवा में अपना हित है। यह हित, यह सुख अलौकिक है। परमार्थ है। समसुख स्वार्थ के हैं। सेवा का सुख परमार्थ-सुख है। परिवार का प्रधान पुरुष सबको खिलाकर खाता है। सबके खाने के बाद बचा भोजन अमृत है। द्रौपदी सबसे अन्त में खाती थीं। उनसे भी अन्त में खाया था श्रीकृष्ण ने। साग का एक टुकड़ा। खाया कृष्ण ने, पेट भरा दुर्वासा का। दुर्वासा की भूख मिट गई। पाण्डवों का कल्याण हो गया।

द्रौपदी पतिसेवा में थीं। ऐसी सेविका की सहायता भगवान् ने की। भगवान् की कृपा, सहायता चाहते हो तो परसेवा करो। दूसरों को सुखी बनाओ। **तत्-सुख-सुखिता** जीवन का महत्त्वपूर्ण मन्त्र है। सम्पूर्ण कृष्णकाव्य परसुख के लिए है।

राधा कृष्ण का सुख ही वृन्दावन है। संयुक्त सुख स्त्री, पुरुष की समान स्थिति। राधा, कृष्ण दोनों ही अनागरिक-जैसे हैं। घर नहीं वन, वाटिका, गली, तटिनी पर मिलनेवाले। किन्तु प्रेम-परिपुष्ट, अन्दर-बाहर सबसे सरस। वृन्दावन, गोकुल में कृष्ण का परिवार नहीं था। राधा कृष्ण की थी। कृष्ण-परिवार की नहीं थी। कृष्ण राधा के थे। नन्द, यशोदा के थे। किन्तु उनके परिवार के नहीं थे। सब अलग होकर भी एक थे। ऐसी एकता परवारों में भी कहाँ होती है?

मथुरा में मामा-भाँजे, बहन-बहनोई का द्वन्द्व था। कंस ने पिता को कैद कर लिया था। द्वारका पारिवारिक द्वन्द्व से टूट गई। सागर में विलीन हो गई। कृष्ण पर चोरी का आरोप लगा। मणि चोरी का आरोप। मक्खन चुरानेवाला चितचोर मणिचोर हो गया। द्वारका में न मक्खन था और न मन, चित्त था। मणि थी। कृष्ण मणिचोर कहलाए। उन्हें सफाई देनी पड़ी। उस सफाई में भी कृष्ण को लाभ ही हुआ। सफाई के सिलसिले में उन्हें जाम्बवती प्राप्त हो गई।

वृन्दावन की धूल द्वारका में प्रभावी न हो सकी। कृष्ण प्रभावी न हो सके। कृष्ण विभक्त हो गए। गोकुल-नायक कृष्ण और द्वारकाधीश। गोकुल की धूल मणि हो गई। मणि में धूल की प्रभावान्विति नहीं थी। मणि ने जल समाधि ली। द्वारका में मणि थी। मणि चोरी का आरोप था। ऐसे देशकाल में तत् सुख कहाँ सम्भव था? तत् सुख नहीं था तो केवल द्वन्द्व था। भाई-भाई को काट रहा। स्त्रियाँ लूटी जा रही थीं।

भगवान् भक्त की चरणधूल चाहते हैं। अपने से अधिक अपने भक्त को महत्त्व देते हैं– **राम ते अधिक राम कर दासा। सततं तव दास दासोऽहम्**। कबीर के प्रभु उनके पीछे घूमते हैं। **कहत कबीर कबीर**। भागवत के भगवान् भी भक्तों के चरणों की धूल की खोज में हैं। (**अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः** (भा० : ११.१४.१६)।

राधादेवी ने अपने चरणों की धूल देकर चरम भक्ति व्यक्त की थी। भक्तचरणों की धूलि में तत्सुख-सुखिता का भाव है। भगवान् को अपने किसी सुख की आवश्यकता नहीं है। वे तत्सुख के लिए ही अवतार ग्रहण करते हैं।

कृष्ण के सारे कर्म तत्सुखार्थ हैं। वे राधा-गोपी के लिए नाचते हैं। ग्वाल-बालों, पशु-पक्षियों के लिए गोचारण करते हैं। नन्द-यशोदा के घर घुटुरन चलकर मक्खन चुराते हैं। स्वयं आप्तकाम हैं, किन्तु भक्तों को आनन्द देते हैं। उन्हें कभी दुख की अनुभूति नहीं होती है। संसार को सुखी बनाना ही कृष्ण-अवतार का उद्देश्य है। तत्सुख की अनुभूति ही सुख है।

वेदान्त, सी० ३३ / ७८-४
चनुआ छित्तूपुर , वाराणसी-२

वल्लभाचार्य का पुष्टिमार्ग

विद्यावाचस्पति डा० श्रीरंजन सूरिदेव

पुष्टिमार्ग के प्रवर्तक वल्लभाचार्यजी थे। इनका सिद्धान्त या मत 'शुद्धाद्वैतवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। इनका लोकावतरण पन्द्रहवीं शती (सन् १४७८ ई०) में वाराणसी के मार्ग में हुआ था। महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराजजी के अनुसार वल्लाभाचार्य कृष्णयजुर्वेदीय तैलंग ब्राह्मण लक्ष्मणभट्ट के पुत्र थे। इनकी माता का नाम एलमागार था। काशीयात्रा के क्रम में, रास्ते में, लक्ष्मणभट्ट की पत्नी ने एक पुत्र को जन्म दिया। वही पुत्र वल्लभाचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

> महाभारत कालिक पांचरात्र-धर्म की जो धारा अक्षुण्ण रूप से प्रवहमान होती हुई भागवत या वैष्णव मत के रूप में ख्यात हुई, वह आदिशंकराचार्य के आविर्भाव के बाद प्रमुख चार मार्गों में विभक्त हो गई– (१) रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैतवाद या श्रीवैष्णव- सम्प्रदाय, (२) मध्वाचार्य का द्वैतवाद या स्वतन्त्रास्वतन्त्रवाद, (३) निम्बार्क का द्वैताद्वैतवाद, सनक-सम्प्रदाय अथवा निम्बार्क- सम्प्रदाय (४) वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैतवाद, रुद्र-सम्प्रदाय, वल्लभ-सम्प्रदाय या पुष्टिमार्ग।
>
> प्रस्तुत आलेख में पुष्टिमार्ग का विशद विवेचन है। –सं०

वल्लभाचार्यजी का जीवनकाल विशेषतः काशी, मथुरा और वृन्दावन में व्यतीत हुआ। भक्तिकाल के कृष्णोपासक भक्तों की परम्परा में इन्होंने कृष्ण की प्रेममूर्ति से जनजीवन को रसमग्न किया। इन्होंने ही सूरदास को दीक्षा दी थी और उन्हें कृष्णभक्ति के मार्ग पर चलने की दिशा प्रदान की थी।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार विक्रम की पन्द्रहवीं-सोलहवीं शती में दिग्दिगन्त-व्यापी वैष्णव-भक्ति के आन्दोलन के प्रधान प्रवर्तकों में आचार्य वल्लभ अन्यतम थे। शुक्लजी ने लिखा है कि इनका लोकावतरण संवत् १५३५, वैशाख कृष्ण एकादशी को तथा लोकान्तरण संवत् १५८७, आषाढ़ शुक्ल तृतीया को हुआ था। ये वेद-वेदान्त के पारगामी धुरन्धर विद्वान् थे। (विशेष द्रष्टव्य : 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास प्रकरण ५')

वल्लभाचार्य ने वैष्णव-भक्ति के अन्तर्गत प्रेमलक्षणा-भक्ति का प्रतिपादन किया। इस सन्दर्भ में इन्होंने बताया कि प्रेमलक्षणा भक्ति की ओर जीव की प्रवृत्ति तभी होती है, जब भगवान् का अनुग्रह होता है, जिसे 'पोषण' या 'पुष्टि' कहते हैं। इसी से इन्होंने अपने द्वारा प्रतिपादित मार्ग की आख्या 'पुष्टिमार्ग' रखी।

वस्तुतः, 'श्रीमद्भागवत' में प्रतिपादित '**पोषणं तदनुग्रहः**' (२.१०.४) के आधार पर वल्लभाचार्य ने भगवदनुग्रह या भगवत्कृपा के रूप में 'पुष्टि' का प्रयोग किया है। जीव को भगवान् के अनुग्रह या पोषण की आवश्यकता होती है। ज्ञातव्य है कि लीला-विलास ब्रह्म एक से अनेक हो जाता है, अर्थात् ब्रह्म का ही अंश असंख्य जीव में परिणत हो जाता है। ऐसी स्थिति में जीव जब

षडैश्वर्य-सम्पन्न भगवान् के छह गुणों– ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य से वंचित होता है, तब वह दुःखी, अहम्भाव से पीड़ित, विपरीत ज्ञान से भ्रान्त तथा आसक्ति से आक्रान्त हो जाता है और इसी कारण वह दुर्बल तथा क्षीण हो जाता है। भगवान् जब वैसे जीव को अपने अनुग्रह से पुष्ट करते हैं, तब वह सबल एवं मोक्षप्राप्ति के योग्य बन जाता है।

वल्लभाचार्य के अनुसार जीव की मोक्षप्राप्ति का प्रमुख साधन पुष्टिमार्गीय भक्ति है। इनके मत से भक्ति दो प्रकार की होती है– मर्यादा-भक्ति और पुष्टि-भक्ति। मर्यादा-मार्ग की भक्ति में भक्त ज्ञान एवं साधना के द्वारा मोक्ष प्राप्त करता है और पुष्टि-मार्ग की भक्ति में केवल भगवान् के अनुग्रह से उसे मुक्ति प्राप्त होती है। पुष्टिमार्ग में सब प्रकार से अपने को भगवान् की शरण में समर्पित कर देने से परमपद वैकुण्ठ की प्राप्ति होती है और वहाँ जाकर भगवान् के सच्चिदानन्द-स्वरूप को प्राप्त होना ही मोक्ष है। (विशेष द्र० अणुभाष्य)

पुष्टि-मार्ग में कृष्णतत्त्व : काल आदि के प्रभाव को रोकनेवाली भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा ही पुष्टि है। आचार्य वल्लभ ने 'ब्रह्मसूत्र' पर लिखित अपने 'अणुभाष्य' में स्पष्ट किया है कि पुष्टि-मार्ग केवल भगवदनुग्रह से ही प्राप्य है– '**कृष्णानुग्रहरूपा हि पुष्टिः कालादिबाधिका**'; **पुष्टिमार्गोऽनुग्रहैकसाध्यः।**

शुद्धाद्वैतवादी वल्लभाचार्य ने अपनी पुष्टिमार्गीय भक्ति को चार आयामों में रखकर तद्विषयक अपने विचार को विस्तार दिया है। जैसे– मर्यादापुष्टि-भक्ति, प्रवाहपुष्टि-भक्ति, पुष्टिपुष्टि-भक्ति और शुद्धपुष्टि-भक्ति। प्रथम 'मर्यादापुष्टि-भक्ति' में कर्म और ज्ञान की प्रधानता रहती है। इस मार्ग के भक्त कर्म या ज्ञान के द्वारा स्वर्गलोक की प्राप्ति कर सकता है। द्वितीय 'प्रवाहपुष्टि-भक्ति' में माया का विनाश होने पर ही भक्त को प्रभुभक्ति प्राप्त होती है, जिससे वह आत्मोद्धार प्राप्त करता है। तृतीय 'पुष्टिपुष्टि-भक्ति' में जीव अपने प्रयत्न से भगवान् का अनुग्रह प्राप्त करता है और चतुर्थ 'शुद्धपुष्टि-भक्ति' में नित्य और मुक्त जीव सेवा का आनन्द प्राप्त करते हैं। उनकी स्थिति सिद्ध अवस्था की होती है। वे उच्च कोटि के जीव होते हैं, जिनपर भगवान् का विशेष अनुग्रह रहता है। यह भक्ति अतिशय दुर्लभ है। (विशेष गम्भीर तलस्पर्शी विवेचन के लिए म० म०पं० गोपीनाथ कविराज-लिखित 'भारतीय साधना की धारा' नामक ग्रन्थ द्रष्टव्य)

पुष्टिमार्ग के संस्थापक वल्लभाचार्यजी कृष्ण को 'राधिकारमण' तथा 'राधिकावल्लभ' मानते हैं। इसलिए पुष्टिमार्ग में व्रजेश्वर कृष्ण की सदा-सर्वदा सर्वात्मभाव से सेवा करना ही परम धर्म है। इसी सेवाधर्म से सांसारिक कष्ट से विमुक्ति होती है और ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है। जीवों के लिए एकमात्र कर्तव्य कृष्णसेवा है। इसके दो स्वरूप हैं– क्रियात्मक और भावात्मक। क्रियात्मक सेवा में गुरु से उपदिष्ट भक्त '**श्रीकृष्णः शरणं मम**' का मन्त्र जपता है। यह क्रियात्मक सेवा दो प्रकार की है– तनुजा एवं वित्तजा। अपने समस्त स्वजनों के शरीर को भगवत्सेवा में अर्पित करना ही 'तनुजा' सेवा है। 'वित्तजा' सेवा है– धन तथा यश को भगवान् के लिए अर्पित करना।

सभी ओर से मन को समेटकर एकमात्र भगवान् में लीन करना भावात्मक सेवा है। यही सेवा प्रकारान्तर से मानसी सेवा है। पुष्टिमार्ग के अनुसार जीव को सम्पूर्ण सिद्धि तनुजा सेवा और उसके अभाव में वित्तजा सेवा से सम्भव है। फिर भी, क्रियात्मक सेवा करना ही जीव का प्रथम कर्तव्य है। इस सेवा को बालभावना या ब्रह्मभावना द्वारा ही किया जाता है।

आचार्य वल्लभ ने पुष्टिमार्गीय सेवा का विस्तार से वर्णन किया है, जिसको सूरदास ने अपने काव्य में विशद रूप में आत्मसात् किया है।

यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं कि सूरदास की प्रायः समस्त काव्य-रचनाएँ पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तों के अनुकूल हैं। इस सन्दर्भ में उनका एक पद द्रष्टव्य है, जिसमें 'पुष्टि' का स्पष्ट उल्लेख मिलता है–

हरि मैं तुम सौं कहा दुराऊँ।
जानत की पुष्टि-पंथ मो सो
कहि-कहि प्रगटाऊँ।।

(द्र० सूरनिर्णय)

सूरदास ने कृष्ण भगवान् का गुणगान करते हुए प्रकारान्तर से पुष्टिभक्ति का विवेचन किया है। सच पूछिए तो सूरदास की रचनाओं में प्राप्य पुष्टिमार्गीय तत्त्वों का विश्लेषण एक स्वतन्त्र शोध का विषय है। गोस्वामी विट्ठलनाथजी ने तो सूरदास को 'पुष्टिमार्ग का जहाज' शब्द से विशेषित किया है।

वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त के अनुसार पुष्टिमार्ग की तीन अवस्थाएँ निर्धारित हुई हैं– स्वरूपासक्ति, लीलासक्ति एवं भावासक्ति। पुष्टिमार्गीय सन्तों ने स्वरूपासक्ति और भावासक्ति से अधिक लीलासक्ति को मूल्य दिया है। लीलासक्ति में कृष्ण के लीला-वैविध्य के वर्णनों की बहुलता है। सूरदास का 'सूरसागर' लीला से सन्दर्भित पदों का ही संग्रह है। उनके गुरु वल्लभाचार्य ने उन्हें 'लीलापद' गाने का ही उपदेश किया था। तभी से वे भगवान् के लीलाधाम व्रजभूमि को छोड़कर अन्यत्र कहीं जाना नहीं चाहते थे। व्रजभूमि के प्रति उनकी इतनी आसक्ति थी कि वे उसे छोड़ वैकुण्ठ भी नहीं जाना चाहते थे। उदाहरण के लिए उनकी ही दो पद-पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं–

तीन लोक तृन सम करि लेखत, नन्दनँदन उर आएँ।
बंसीवट, वृन्दावन, जमुना, तजि वैकंठ न जावै।।

(सूरसागर)

लीलाभूमि के सम्बन्ध में 'अष्टछाप-परिचय' के लेखक तथा पुष्टिमार्ग के प्रख्यात आचार्य श्री हरि रायजी लिखते हैं– "गिरिराज (गोवर्धन) की तलहटी नित्य लीलाभूमि है। श्रीनाथजी स्वामिनी-सहित (वहाँ) नित्य लीला करते हैं और आठ सखा, यानी अष्टछाप के आठ कवि (कुम्भनदास, सूरदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, गोविन्दस्वामी, छीतस्वामी, चतुर्भुजदास और नन्ददास) उनकी लीलाओं में आठों पहर उनके साथ रहते हैं। इन आठ सखाओं के लीलात्मक स्वरूपों की दो स्थितियाँ हैं– वे दिन में ठाकुरजी के सखारूप में उनकी व्रजलीला का सुख प्राप्त करते हैं और रात में स्वामिनीजी की सखी के रूप में निकुंजलीला के सुख का अनुभव करते हैं। गिरिराज नित्य निकुंज के आठ द्वार हैं और अष्टछाप के आठों सखा इन द्वारों के अधिकारी हैं। वे इन द्वारों पर रहते हुए ठाकुरजी की सेवा सदैव करते रहते हैं।" (विशेष द्र० 'अष्टछाप-परिचय')

इन आठों सेवकों के, सखी के रूप में मान्य लीलात्मक रूप क्रमशः इस प्रकार हैं– विशाखा, चम्पकलता, चन्द्रभागा, ललिता, भामा, पद्मा, विमला और चन्द्रलेखा। सखी-रूप में माधुर्यभाव से कृष्णोपासना करनेवालों का सम्प्रदाय 'सखी-सम्प्रदाय' के नाम से भी जाना गया।

महाप्रभु वल्लभाचार्य के संस्कृत-ग्रन्थ 'सेवाफलम्' पर आधृत एक छोटा-सा ग्रन्थ 'सेवाफल' नाम से मिलता है। इस ग्रन्थ के अनुसार सेवा का फल प्राप्त करने में तीन बाधाएँ आती हैं– चिन्ता, कष्ट और भौतिक आनन्द। ये तीनों बाधाएँ प्रभुभक्ति में मन को एकाग्र नहीं होने देती हैं। पुष्टिमार्गी-भक्ति के अनुसार भगवन्नाम का कीर्तन और स्मरण मन को एकाग्र करता है।

आचार्य वल्लभ ने भगवान् कृष्ण के प्रति दास्य भाव को पुष्टिमार्ग कहा है। उनके द्वारा रचित श्रीमद्भागवत की सुबोधिनी टीका (दशम स्कन्ध) में यह उल्लेख है–

पुष्टिमार्गो हरेर्दास्यं धर्मोऽर्थो हरिरेव हि।
कामो हरेर्दिदृक्षैव मोक्षः कृष्णस्य चेद्ध्रुवम्।।

अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चारों पुरुषार्थ सर्वात्मना भगवत्सेवा के ही प्रतिरूप हैं।

आचार्यश्री ने अपने ग्रन्थ 'भक्तिवर्द्धिनी' में पुष्टि-भक्ति की वृद्धि के लिए निर्धारित कतिपय साधनों की विवेचना की है, जिनके अनुसार भगवदनुग्रह से प्रेम की उत्पत्ति होती है, उसमें दृढता आती है, तदनन्तर श्रवण-कीर्तन, पूजा-भजन आदि के द्वारा भक्ति की वृद्धि होती है।

सब प्रकार से आत्मसमर्पण तथा अनन्य भाव से भक्ति ही सर्वोपरि है। प्रभुचरणों में सर्वात्मभाव से आत्मनिवेदन करके भक्तजन परमानन्द का लाभ करते हैं। प्रसिद्ध पुष्टिमार्गीय ग्रन्थ 'सिद्धान्तमुक्तावली' में मन के निरोध के लिए मानसी भक्ति-रूप श्रीकृष्ण की सेवा को महत्त्व दिया गया है– '**कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता।**'

पुष्टिमार्ग में राधा-तत्त्व : वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिष्ठापित पुष्टिमार्गीय साधना-पद्धति में पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण के संग 'स्वामिनीजी' नाम से राधाजी की आराधना को विशेष मूल्य प्राप्त है। शास्त्रों या वैष्णवागमों में राधा की पृथक् सत्ता का निर्देश लीला-परिकर के आलम्बन-रूप होने के लिए अवश्य किया गया है, पर दोनों में– राधा और कृष्ण में पूर्ण अद्वैत-भावना का ही विलास नित्य रूप से विद्योतित होता रहता है। राधा और कृष्ण की सत्ता सर्वत्र समानान्तर रूप से प्रतिष्ठित रहती है। राधा शक्ति-रूपिणी हैं तो कृष्ण शक्तिमान् रूप हैं।

साम्प्रदायिक दृष्टि के विद्वान् ऐसा मानते हैं कि 'स्वकीया' तथा 'परकीया' शब्द सापेक्ष और संकुचित अर्थ के द्योतक हैं। इसमें वह अन्तरंगता नहीं है, जो धर्म-धर्मी भाव से युक्त आत्मा में है। इसलिए पुष्टि-सम्प्रदाय में राधा का न तो स्वकीयात्वेन, न ही परकीयात्वेन निर्देश किया गया है। यहाँ तो राधा सर्वत्र सच्चिदानन्द रसमय पुरुषोत्तम की मुख्य ह्लादिनी शक्ति और स्वामिनी के रूप में आलेखित हुई हैं। इस सन्दर्भ में शास्त्र-सम्मत प्रामाणिक और विश्वसनीय विवेचन के लिए महामहोपाध्याय आचार्य बलदेव उपाध्याय-लिखित 'भारतीय वाङ्मय में श्रीराधा' नामक ग्रन्थ अवलोकनीय है।

अपने पिता आचार्य वल्लभ के सिद्धान्त का अनुसरण करके गोस्वामी विट्ठलनाथ ने राधा-तत्त्व की पुष्टिमार्गीय पद्धति से अतिशय विशद और परिस्फुट व्याख्या की है। इसलिए कतिपय विद्वान् पुष्टिमार्ग के प्रथम प्रतिपादन का श्रेय विट्ठलनाथ को ही देते हैं।

विट्ठलनाथ अपनी चतुःश्लोकी राधा-प्रार्थना के एक श्लोक में कहते हैं– भगवान् के साथ सम्मिलन में उपस्थित होनेवाली विघ्न-बाधाओं को दूर कर यदि स्वामिनी राधाजी इस जीव को कृपामृत की वर्षा से अभिषिक्त कर देती हैं तो फिर पुष्टिमार्ग और मर्यादामार्ग में ऐसा कौन-सा कर्तव्य शेष रह जाता है, जिसे किए बिना न्यूनता रह जाती हो? श्रीराधा का कृपापात्र बनना साधक के जीवन की चरम अभिलाषा होती है।

यदि श्रीराधा अपनी शुभ दन्तमुक्तावली की किरणों की मन्द स्मितिपूर्वक अनुपम शोभा बिखेरती हुई दो-चार मीठे बोल व्यक्त कर दें तो इससे बढ़कर साधक का भाग्य ही क्या हो सकता है? इन मीठे बोलों के समक्ष मुक्ति भी शुक्ति की तरह मूल्यहीन हो जाती है।

तात्पर्य यह कि भक्त के लिए राधा का कृपापात्र बनना तथा उनके श्रीमुख से निकले कतिपय मीठे वचनों का श्रवण ही सर्वोत्तम भाग्य है। मूल श्लोक इस प्रकार है–

कृपयति यदि राधा बाधिताशेषबाधा
किमपरमवशिष्टं पुष्टिमर्यादयोर्मे।
यदि वदति च किञ्चित् स्मेरहंसोदितश्री-
द्विजवरमणिपंक्त्या मुक्तिशुक्त्या तदा किम्।।

इतना ही नहीं, गोस्वामीजी की दृष्टि में, पुष्टिमार्ग में श्रीस्वामिनीजी का स्थान इतना उदात्त

और उन्नत है कि वे अपने भौतिक तथा आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति श्रीराधा के विविध कार्यों में समाहित मानते हैं। (विशेष द्र० 'भारतीय वाङ्मय में श्रीराधा'– वल्लभ-मत में राधा-तत्त्व)

आचार्य बलदेव उपाध्याय द्वारा अपने उक्त ग्रन्थ में एतद्विषयक की गई विवेचना का निष्कर्ष यह है कि गोस्वामी विट्ठलनाथ निस्सन्देह पुष्टिमार्ग के महान् व्याख्याता थे, परन्तु इस मार्ग के प्रवर्तक महाप्रभु वल्लभाचार्य ही थे। राधावाद का प्रचार इनके ही समय में हुआ। इन्हें कृष्णप्रेयसी के रूप में राधा मूलतः परिचित थीं। किन्तु युगल-उपासना सर्वमान्य प्राचीन सिद्धान्त है, जिसका अनुसरण प्रायः प्रत्येक वैष्णव-सम्प्रदाय ने किया है।

इस उपासना के प्रचार के लिए एक सम्प्रदाय का दूसरे सम्प्रदाय से प्रभावित कहना समीचीन नहीं। चैतन्यमत से प्रभावित होकर आचार्य वल्लभ ने युगल-उपासना का प्रचार किया, यह अनुमान भी तर्क-प्रतिष्ठित नहीं है। चैतन्यमत में राधा परकीया-रूप में ही बहुशः स्वीकृत हैं, परन्तु पुष्टिमार्ग में वे परम स्वकीया हैं। पुष्टिमार्ग की सेवाभावना में युगल-स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है। अलौकिक शृंगार रस के संयोग-वियोगात्मक भेदों का ऐक्य तथा परमानन्द रस का पूर्ण परिपाक ही श्रीराधा-कृष्ण-तत्त्व है। इसमें लीला-भावना के अतिरिक्त अन्य कोई स्वरूपगत भेद नहीं है। दोनों एकरस हैं, एकस्वरूप हैं और एकात्म भी हैं। यही तथ्य आचार्य वल्लभ और गोस्वामी विट्ठलनाथ के सिद्धान्तों के अनुशीलन से उद्भावित होता है।

पुष्टिमार्ग के यथोक्त आचार्य हरि राय ने तो पुष्टिमार्गीय माधुर्योपासना में कृष्णतत्त्व से अधिक राधातत्त्व को महत्त्व दिया है। उनका एक ग्रन्थ है– '**श्रीमत्प्रभोश्चिन्तनप्रकारः**', जिसमें उन्होंने राधा का परम रमणीय चित्रण किया है, साथ ही लिखा है कि श्रीस्वामिनीजी इस संसार में सर्वाधिक श्रीकृष्णपरायण हैं। उनका प्रत्येक क्षण श्रीकृष्ण के चिन्तन, ध्यान और अनुसन्धान में व्यतीत होता है। कृष्ण के विरह में वे सन्तप्त होती हैं तो उनके साक्षात्कार से आह्लाद की तरंगिणी में प्रवाहित होने लगती हैं। इसलिए श्रीस्वामिनीजी के चिन्तन का अनुसरण करके ही कृष्ण का चिन्तन सम्भव किया जा सकता है; क्योंकि वह श्रीस्वामिनीजी के हृदय-कमल में सदा विराजते हैं। इस मान्यता से यह स्पष्ट है कि पुष्टिमार्गीय साधना में राधा का समधिक महत्त्व है।

महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज के मतानुसार भी वल्लभाचार्य द्वारा प्रदर्शित भक्तिमार्ग का नामान्तर पुष्टिमार्ग है। भगवान् के अनुग्रह या कृपा को 'पुष्टि' कहते हैं। भक्तिमात्र ही भगवान् का अनुग्रह-सापेक्ष है। सामान्य अनुग्रह से जो भक्ति होती है, वह मर्यादा-भक्ति है। विशिष्ट कृपा से जो भक्ति उत्पन्न होती है, उसका पारिभाषिक नाम 'पुष्टि-भक्ति' है। पुष्टि-भक्ति केवल भगवत्प्राप्ति की आकांक्षा का विषय होती है, इससे भिन्न फल की आकांक्षा नहीं होती। पुष्टि-भक्ति के समक्ष मोक्ष भी तुच्छ है। (विशेष द्र० 'भारतीय साधना की धारा' का 'शुद्धाद्वैत या वल्लभ-सिद्धान्त' प्रकरण)

पुष्टिमार्ग की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की मान्यता के अनुसार वल्लभाचार्य ने अपने 'कृष्णाश्रय' नामक प्रकरण-ग्रन्थ में अपने समय की विपरीत देशदशा का वर्णन किया है, जिसमें आचार्यश्री को वेदमार्ग अथवा मार्यादा-मार्ग का अनुसरण अतिशय कठिन दृष्टिगत हुआ है। उस समय देश में मुसलमानी साम्राज्य की जड़ बहुत मजबूत हो चुकी थी। हिन्दुओं का एकमात्र स्वतन्त्र और प्रभावशाली राज्य-दक्षिण का विजयनगर राज्य रह गया था, किन्तु प्रतिवेशी बहमनी सुलतानों के कारण उसकी स्थिति भी डावाँडोल बनी हुई थी। एक ओर इसलामी संस्कार धीरे-धीरे जमते जा रहे थे और दूसरी ओर सूफी सन्तों द्वारा सूफी पद्धति की प्रेमलक्षणा भक्ति का प्रचार-कार्य जोरों

से चल रहा था। पुनः एक ओर निर्गुण-पन्थियों द्वारा वैदिक विधियों से जनता की आस्था के निर्मूलन का कार्य जारी था। देश-काल की ऐसी स्थिति में आचार्य वल्लभ ने अपने पुष्टिमार्ग का प्रवर्तन किया, जिससे सामान्य जनजीवन में राष्ट्रीय ऐक्यचेतना की एक नई दिशा प्रकट हुई।

और फिर, शंकराचार्य ने निर्गुण ब्रह्म को ही ब्रह्म का असली रूप कहा था और सगुण को व्यावहारिक रूप। परन्तु अपने पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त के अनुसार वल्लभाचार्य ने ठीक उसके विपरीत ब्रह्म के सगुण रूप को ही असली कहा और निर्गुण को उसका अंशतः तिरोहित रूप।

इसके अतिरिक्त इन्होंने सूफियों की प्रेमलक्षणा भक्ति को भी ग्रहण किया, साथ ही यह भी स्पष्ट किया कि परब्रह्म श्रीकृष्ण ही दिव्य गुणों से सम्पन्न होकर 'पुरुषोत्तम' कहलाते हैं। उनके इसी श्रेष्ठ पुरुषोत्तम-रूप में ही आनन्द का पूर्ण आविर्भाव होता है। वह अपने भक्तों के लिए 'व्यापी वैकुण्ठ' में अनेक प्रकार की लीलाएँ करते हैं। 'गोलोक' इसी 'व्यापी वैकुण्ठ' का एक खण्ड है, जिसमें यमुना, वृन्दावन, निकुंज आदि सब कुछ हैं। भगवान् की इस नित्यलीला-सृष्टि में प्रवेश करना ही जीव की सर्वोत्तम गति है। इसे ही पुष्टिमार्ग में परमपद वैकुण्ठ की प्राप्ति कहा गया है, जहाँ साधक कुण्ठारहित होकर आत्यन्तिक आनन्द का अनुभव करता है, भगवान् के आनन्दमय रूप को प्राप्त करता है। पुष्टिमार्ग के अनुसार, भगवान् के आनन्दमय रूप की प्राप्ति ही 'मोक्ष' है।

सन्दर्भ-साहित्य :

(१) हिन्दी-साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।

(२) भारतीय वाङ्मय में श्रीराधा : म०म० आचार्य बलदेव उपाध्याय।

(३) भारतीय दर्शन : डॉ० पारसनाथ द्विवेदी।

(४) अष्टछाप-परिचय : आचार्य हरि राय।

(५) भारतीय साधना की धारा : म०म० पं० गोपीनाथ कविराज।

(६) श्रीमद्भागवत : गीता प्रेस, गोरखपुर।

(७) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा संकेतित आचार्य वल्लभ के मुख्य पुष्टिमार्गीय ग्रन्थ :

(क) पूर्वमीमांसाभाष्य; (ख) उत्तरमीमांसा या ब्रह्मसूत्र-भाष्य (अणुभाष्य); (ग) श्रीमद्भागवत की सूक्ष्मटीका : सुबोधिनी टीका; (घ) तत्त्वप्रदीप निबन्ध तथा (ङ) सोलह छोटे-छोटे प्रकरण-ग्रन्थ।

(८) म० म० आचार्य बलदेव उपाध्याय द्वारा संकेतित पुष्टि-मार्गीय साहित्य :

(क) पुरुषोत्तमनासहस्रस्तोत्र; (ख) श्रीकृष्णप्रेमामृतस्तोत्र; (ग) श्रीकृष्णाष्टक; (घ) भागवत-श्लोक की 'सुबोधिनी' टीका; (ङ) श्रीनीलकण्ठमणि शास्त्री कृत 'श्रीराधा-गुणगान' (गोरखपुर-संस्करण); (च) अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय : डा० दीनदयालु गुप्त।

(९) श्रीविट्ठलनाथ के ग्रन्थ :

(क) चतुःश्लोकी राधा-प्रार्थना; (ख) श्रीस्वामिन्यष्टक; (ग) श्रीस्वामिनी-स्तोत्र।

(१०) आचार्य हरि राय का ग्रन्थ : श्रीमत्प्रभोश्चिन्तनप्रकारः।

(११) पुष्टिविधानं व्याकरणम् : श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, कंसारा बाजार, माण्डवी, कच्छ (गुजरात)।

(१२) 'धर्मायण' (मासिक), महावीर मन्दिर, पटना से प्रकाशित; 'महाप्रभु वल्लभाचार्य के दार्शनिक पक्ष' शीर्षक आलेख : डा० कैलाशचन्द्र भाटिया (नवम्बर, १९९१ ई०)।

(१३) पुष्टिमार्गीय साहित्य के प्रकाशक : श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, कंसारा बाजार, माण्डवी, कच्छ (गुजरात)।

पी० एन० सिन्हा कालोनी,
भिखना पहाड़ी,
पटना-६

आर्यजीवन-धारा के दो सुदृढ़ किनारे

प्रो० रामाश्रय प्रसाद सिंह

सरलता श्रेष्ठ सद्गुण है और परमात्मा के पास पहुँचने का सुगम उपाय है। सन्त कबीरदासजी कहते हैं– '**सहजे मिले अबिनासी।**' सरलता तथा सात्त्विकता के साथ संयम मानव का सहज स्वभाव है। ये तीनों मानवता के दिव्य आधार हैं। कृत्रिमता जीवन को विषाक्त बनाती है, बनावटीपन मानव को महत्त्वहीन बनाता है। यह कृत्रिमता मानव को उसकी पहचान से दूर करती है। जटिलता बन्धन का कारण बनती है, मानव को उलझाती है और उसे संसार में फँसाती है।

वक्रता तो सर्प का स्वभाव है, टेढ़ापन पशुता और राक्षसता है। सहज, सरल और संयमित होकर ही हम अपने 'मानुषभाव' को बिम्बित कर सकते हैं। इसीलिए अति प्राचीन काल से ही आर्यजीवन सरलता तथा सात्त्विकता को अपनाए अपनी सनातन जययात्रा में चल पड़ा है। संयम, सारल्य और सात्त्विकता की पावन त्रिवेणीधारा का दूसरा नाम है आर्यत्व, दूसरा पर्याय है हिन्दुत्व! हिन्दुत्व ही मानवत्व है, यही दिव्यत्व है और यही आर्यत्व है।

> **आकाशात् पतितं तोयः सागरं प्रति गच्छति** की भावना से अनुमोदित जीवनधारा अभिविधि से मर्यादा की दूरी निश्चय ही दो किनारों के बीच संयमित होकर तय करती है अन्यथा वह धारा अपने रास्ते से भटककर विनाशकारिणी बन जाती है। सरलता और सात्त्विकता के बीच संयमित होकर बहनेवाली धारा आर्यजीवन-धारा है।

किन्तु मानव ने अपने जीने का जो ढंग बना लिया है, वह उसे मनुष्यता से दूर रखता है। बल्कि यों कहा जाए कि मनुष्य सुख-शान्ति की प्राप्ति के लिए जिस कृत्रिम जीवन को जी रहा है, उसने उसे परमात्मा से दूर हटा दिया है। परमात्मा को सरलता प्रिय है, परमात्मा को सात्त्विकता प्रिय है। भगवान् निर्मलता खोजते हैं, सरलता खोजते हैं। मानव भीतर कुछ है और बाहर कुछ और दिखाई पड़ता है। उसके भीतर काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि दुर्गुण भरे पड़े हैं और वह बाहर मनुष्य बना दिखाई पड़ता है, सज्जन और साधु के रूप में अपने को बिम्बित करता है। यहीं पर मनुष्य से भूल हो जाती है।

हमारा सारा ध्यान तन पर है। हमारा मन उपेक्षित है। तन को सँवारना और मन की उपेक्षा करना परमात्मा के प्रेम से वंचित होना है। हम संसार को, अपने शरीर को कसकर पकड़े हुए हैं और चाहते हैं कि परमात्मा मिल जाए, परमात्मा का भरपूर प्यार मिल जाए, यह सम्भव नहीं है। हम जटिलताओं और कृत्रिमताओं में अपना सारा समय लगा देते हैं और चाहते हैं कि हमें परमात्मा मिल जाए, यही हमारी नासमझी है।

अन्तःकरण की निर्मलता ही जीवन को सही दिशा प्रदान करती है। इसीलिए हमारे सन्तों और महात्माओं ने हृदय की पवित्रता पर सबसे अधिक ध्यान दिया है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने

रामचरितमानस के सुन्दरकाण्ड के मंगलाचरण में निर्भरा भक्ति की माँग करने के पश्चात् यही वरदान माँगा है कि उनका हृदय कामादि दोषों से रहित हो। पूरा श्लोक इस प्रकार है–

नान्या स्पृहा रघुपते हृदयेऽस्मदीये
सत्यं वदामि च भवानखिलान्तरात्मा।
भक्तिं प्रयच्छ रघुपुङ्गव निर्भरां मे
कामादिदोषरहितं कुरु मानसं च।।

(मानस : सुन्दर० : मंगलाचरण : २)

इतना ही नहीं, इसी सुन्दरकाण्ड में विभीषण-शरणागति के प्रसंग में भगवान् श्रीराम के श्रीमुख की वाणी है–

निर्मल मन जन सो मोहि पावा।
मोहि कपट छल छिद्र न भावा।।

(मानस : ५.४३.५)

परमात्मा के पास पहुँचने का मार्ग यही निर्मलता है, सहजता और सात्त्विकता है। बाइबिल में भी ईसा मसीह ने कहा है– "Blessed are those whose hearts are pure, for they shall see God in heaven." (धन्य हैं वे, जो पवित्र मनवाले हैं, क्योंकि वे ही स्वर्ग में परमात्मा के दर्शन के अधिकारी हैं।)

परमात्मा को छल-कपट, कृत्रिमता-जटिलता तथा पाखण्ड और प्रदर्शन पसन्द नहीं। वे जीव से ऋजुता की अपेक्षा करते हैं। परमात्मा केवल हमारा मन और हमारा हृदय देखते हैं। वे मानव के रूप, गुण, जाति, मजहब, पन्थ, धन-दौलत, पद-प्रतिष्ठा, रुपया-पैसा, कपड़ा-मकान आदि कुछ नहीं देखते। उन्हें तो निष्कपटता चाहिए, निर्मलता चाहिए, शुद्धता चाहिए, सरलता और भोलापन चाहिए। उन्हें बच्चों का निर्मल तथा निष्कपट, निष्काम हृदय चाहिए। जीसस क्राइस्ट ने कहा है– "जब तक तुम पुनः बच्चों की भाँति न हो जाओ, तब तक तुम प्रभु के राज्य में प्रवेश न पा सकोगे।"

वास्तव में आर्यजीवन का वैशिष्ट्य सरलता, सात्त्विकता और संयमशीलता में ही देखने को मिलता है। आर्य मन सीधा और सरल होता है, विनम्र और पवित्र होता है।

हमारे प्राचीन ऋषियों ने इस भयंकर एवं दुस्तर संसार-नदी को पार करने के लिए संयम और सरलता के साथ-साथ विशुद्धता अर्थात् पवित्रता को ही सबसे अधिक महत्त्व दिया था। श्री भर्तृहरि ने अपने 'नीतिशतक' में संसार-नदी का एक रूपक दिया है और बताया है कि इस दुस्तर संसार-नदी को वही पार कर सकता है, जो योगी हो, संयमी हो और विशुद्ध मन तथा पवित्र हृदयवाला हो। पूरे श्लोक का आनन्द लें–

आशा नाम नदी मनोरथजला, तृष्णातरंगाकुला,
रागग्राहवती वितर्कविहगा धैर्यद्रुमध्वंसिनी।
मोहावर्तसुदुस्तरातिगहना प्रोत्तुंगचिन्तावटी।
तस्याः पारगता विशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वराः।।

(वैराग्यशतक)

इस श्लोक में स्पष्ट बताया गया है कि इस सुदुस्तर संसार-नदी को वही निरापद पार कर सकता है, जो योगी हो, संयमी हो, जिसने अपने मन को संसार की विकृतियों एवं वक्रताओं से बचाकर परमात्मा में लगा दिया हो और जो विशुद्ध मन का हो। संसार-नदी को पार करने का यही सर्वोत्तम उपाय है।

संसार कृत्रिमता और जटिलता उत्पन्न करता है। वह लोभ-लालच का मायाजाल फैलाकर मछली की भाँति जीव को फँसाता है। मानव संसार के मायाजाल में फँस जाता है और अपने जीवन के गन्तव्य से दूर जा पड़ता है। परमात्मा प्रभु से उसकी दूरी बढ़ती ही जाती है। वह प्रदर्शन-प्रिय बनता चला जाता है। मिथ्या अभिमान का शिकार बनकर वह संसार का ही होकर रह जाता है। उसका सारा जीवन मकान-दुकान बनाने-सजाने में ही समाप्त हो

जाता है। अन्त में वह व्यर्थता का बोझ लिए श्मशान में जाकर राख बन जाता है। जिस उद्देश्य को लेकर वह संसार में आया था, उससे विपरीत दिशा का यात्री बनकर व्यर्थ ही हीरा सदृश अनमोल जीवन गँवा देता है। उसके साथ कुछ भी यहाँ का नहीं जाता। उसकी सारी कमाई, धन-दौलत यहीं रह जाती हैं। संस्कृत के एक श्लोक में कितना सच कहा गया है–

धनानि भूमौ पशवश्च गोष्ठे
भार्या गृहद्वारि जनः श्मशाने।
देहश्चितायां परलोकमार्गे
धर्मानुगो गच्छति जीव एकः।।

धन भूमि में ही गड़े रह जाते हैं या बैंक के लौकर में रह जाते हैं। गाय-बैल-भैंस सारे-के-सारे पशु गोष्ठ या धारी में ही रह जाते हैं। पत्नी दरवाजे तक ही साथ देती है। परिवार के जन, सम्बन्धी, मित्र-बन्धु श्मशान तक ही साथ देते हैं। हमारा यह शरीर भी चिता तक ही साथ देता है। परलोक के मार्ग में, परमात्मा के मार्ग में तो हमारा धर्म, हमारा सत्कर्म ही साथ देता है। किन्तु हम हैं कि न तो हम धर्ममय जीवन जीते हैं और न सत्कर्म करते हैं, जिनसे हमारा परलोक सँवरे। हम निरर्थक कूड़ा-करकट और व्यर्थता के संग्रह में ही अपने जीवन को समाप्त कर देते हैं।

हमारे ऋषियों, मुनियों और विपश्चित् (विद्वान्) विप्रों ने बहुत पहले ही यह जान लिया था कि संसार में, अल्प में सुख नहीं, संग्रह-परिग्रह में शान्ति नहीं। धन से कभी तृप्ति नहीं हो सकती। कठोपनिषद् की वाणी है– "**न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः**" (१.२७)। छांदोग्य-उपनिषद् में भी कहा गया है– "**यो वै भूमा तत्सुखं, नाल्पे सुखमस्ति**" (७.२३.१)। अर्थात् जो भूमा है, असीम है, महान् है, वही सुख है। और जो अल्प है, समीम है, क्षुद्र है, उसमें सुख नहीं। इसी उपनिषद् में कहा गया है– जो भूमा है, वह अमृत है, अविनाशी है। और जो अल्प है, वह मर्त्य है अर्थात् मरणधर्मा है, विनाशी है– "**यो वै भूमा तदमृतम्, अथ यदल्पं तन्मर्त्यम्।**" (छां० उ० : ७.२४.१)

सरल, सात्त्विक और संयमित जीवन जीते हुए परमात्मा का सतत स्मरण मानव को दिव्यत्व प्रदान करता है। सरलता ही जीवन है, सात्त्विकता ही मानव का स्वभाव है। झूठे अहंकार तथा धनमद, पदमद, यौवनमद में मानव ताड़ वृक्ष की भाँति अकड़ा खड़ा रहता है। उसके जीवन में न तो छाया है और न फल। उसके निकट जानेवाले को उलटे चोटें मिलती हैं।

विनम्रता वह सद्‌गुण है, जो व्यक्ति को परमात्मा के निकट पहुँचाता है। इस विनम्रता को सरलता, सात्त्विकता को पवित्रता और निश्छलता को व्यक्ति अहंकार में अपने से दूर कर देता है। परिणाम क्या होता है? जीवन भर वह भाग-दौड़ में ही अपना बहुमूल्य जीवन व्यतीत कर देता है, बालू में, रेत में दौड़ते-दौड़ते थककर चूर हो जाता है और अन्त में काल के विकराल गाल में समाकर समाप्त हो जाता है। सन्त कबीरदासजी अपनी एक साखी में कहते हैं–

झूठे सुख को सुख कहे, मानत है मन मोद।
खलक चबेना काल का, कुछ मुख में कुछ गोद।।

मानव के जीवन में कोई फूल नहीं खिलता, उसके जीवन से कोई सुगन्ध नहीं छिटकती, प्रकाश की कोई किरण नहीं विकीर्ण होती, प्रेम की कोई कली नहीं फूटती। व्यर्थताओं का बोझ बन जाता है उसका समग्र जीवन।

आर्जव अर्थात् नम्रता, विनय, सरलता आर्य-मन का सबसे बड़ा वैशिष्ट्य है। ऋषि-मुनि, सन्त-महात्मा, साधु-फकीर सभी सरल, सात्त्विक और संयमित जीवन जीते थे और गृहस्थों को वैसा ही जीवन जीने की प्रेरणा देते रहते थे। इसीलिए हमारी

यह ऋषि-संस्कृति विश्व में विशिष्टतम संस्कृति मानी जाती रही है। इसी ऋषि-संस्कृति पर आधारित हमारी कृषि-संस्कृति श्रेष्ठ संस्कृति के रूप में प्रख्यात है। तप, त्याग और तपोवन हमारी इस महीयसी संस्कृति की पावन त्रिवेणी धारा में आर्यजीवन अपनी पहचान बिम्बित करता रहता है। किन्तु बड़े दुःख और खेद के साथ कहना पड़ता है कि आज पश्चिम से आयातित भोगवादी और उपभोक्तावादी संस्कृति-सभ्यता के चाकचिक्य ने, उसके मोहक मायाजाल ने आर्यमन को विशेष कर किशोरों और किशोरियों के मन को ठग लिया है। हम अपने महान् एवं महनीय को, श्रेष्ठ और ज्येष्ठ को, उत्कृष्ट और प्रकृष्ट को भूलकर तुच्छ के पीछे पागल बनकर बेतहाशा दौड़ लगा रहे हैं। व्यर्थता और निकृष्टता के पीछे हमारी यह पागल दौड़ कहाँ ले जाएगी, नहीं कहा जा सकता।

धन कमाना बुरी बात नहीं, धन कमाना चाहिए पर शुद्ध और सात्त्विक तरीके से धन कमाना चाहिए और उसका सदुपयोग करना चाहिए। झूठे प्रदर्शन, देह की सजावट, दहेज, दावत और दिखावे में धन का दुरुपयोग पशुता और राक्षसता है। हिंसा पर आधारित धन हमारे जीवन में विषाक्तता और अकड़ लाता है, हमें अहंकारी बनाता है, हमें हिंस्र पशु और दुर्दान्त दानव बनाता है; हमारी सरलता, सात्त्विकता, संयम-शीलता एवं विनम्रता को अँगूठा दिखाता है, हमारे मानुषभाव को समाप्त करता है। हमारे ऋषि-मुनि, सन्त-महात्मा निरन्तर हमें सावधान करते रहते हैं कि धन हो, पद हो, विद्या हो, प्रतिष्ठा हो तो अकड़ मत, घमण्ड मत कर। हे मानव! तू नर है, शार्दूल हो।

स्वामी विवेकानन्द कहा करते थे कि तू सिंह है, देवताओं से भी महान् है, श्रेष्ठ है! तू नरशार्दूल है। नर वह है जो भोगों में, संसार में न रमे, केवल इन्द्रियों में न रमे। दिव्यता, सात्त्विकता और ऋजुता में रहना ही नरता है, यही मनुष्यता है। नर ही नरोत्तम बन सकता है।

मनुष्य अपने को बहुत चतुर, चालाक, बुद्धिमान् और मूल्यवान् मानने लगता है। वह अपने को दूसरों से बड़ा, श्रेष्ठ और महान् समझता है। वह प्रतिदिन जटिल और कृत्रिम बनता चला जाता है। आज खोजने से भी विकुण्ठ मानव नहीं मिलता। जबकि हमारी संस्कृति बराबर से ऐसे मानव की कल्पना करती रहती है, जिसमें कोई कुण्ठा न हो, संकुचितता-संकीर्णता न हो। हमारी संस्कृति अति प्राचीनकाल से ही ऋजुता के पथ की धाविका रही है। आधुनिकता के आत्यन्तिक अन्धड़ से ग्रस्त आज का आर्य मन कुण्ठित हो गया है। अन्ध विश्वासों के जंगल में भटककर, रूढ़ियों का शिकार बनकर हम अपने गन्तव्य से काफी दूर हो चले हैं। आदमीयत देखने को कहीं नहीं मिलती। आज का मानव जातीय स्वाभिमान, दलगत राजनीति तथा धर्मान्धिता के चलते कूपमण्डूकता की साधना में डूबता निरन्तर छोटा और बौना बनता चला जा रहा है। यह हमारे आर्यत्व के विरुद्ध और विपरीत है। यह हमारी मनीषा की घोर अवमानना है।

पूर्वजों के तपःपूत जीवन की कमाई हम व्यर्थ ही गँवा रहे हैं। हमें आज सोचना है कि हम कहाँ जा रहे हैं, किधर जा रहे हैं! प्रेम और प्रार्थना दोनों हमारे जीवन से विदा ले रहे हैं। प्रार्थना परमात्मा प्रभु की और प्रेम मानव से– ये ही दो मानव को मानव बनाते हैं। आज इन दोनों का हमारे जीवन से अलगाव होता जा रहा है। और परिणाम सामने है– हम बड़ी तेजी से पशुता और राक्षसता की दिशा में चल रहे हैं। धरती का जीवन विषाक्त बनता जा रहा है। कलह, घृणा, द्वेष, नफरत, हिंसा, युद्ध, अपहरण, आतंक हमारा स्वभाव बनता जा रहा है। धरती, आकाश और वायु सब प्रदूषित हो गए हैं। इन सबके मूल में हमारी कृत्रिमता है, जटिलता है

और अतिशय तथा अनियन्त्रित भोगलिप्सा है।

महाकवि दिनकर ने अपने महाकाव्य 'कुरुक्षेत्र' के षष्ठ सर्ग में आज के मानव को विज्ञान तथा हिंसा से सावधान करते हुए हमारा जो श्रेय बताया है, उसी का अनुसरण तथा आचरण कर हम धरती पर मानव-जीवन को बचा सकते हैं–

रसवती भू के मनुज का श्रेय!
यह नहीं विज्ञान कटु आग्नेय!
श्रेय उसका प्राण में बहती प्रणय की वायु।
मानवों के हेतु अर्पित मानवों की आयु।।

सरलता-सात्त्विकता का आत्यन्तिक अभाव हो गया है हमारे जीवन में। परमात्मा का प्रेम हो या मानव का या जीव का, वहाँ केवल सरलता, ऋजुता, निष्कपटता और सात्त्विकता चाहिए। ये वे उत्कृष्ट साधन हैं, जो भक्ति में, प्रेम में, ज्ञान में और अध्यात्म में सहयोगी हैं। प्रेम के पथ पर सरल-सात्त्विक हृदय लेकर ही चला जा सकता है। यहाँ बाँकपन, टेढ़ापन नहीं चलता। प्रेम और वक्रता में छत्तीस का सम्बन्ध है। अहंकार को मिटाकर, जटिलता-कृत्रिमता का त्याग कर ही व्यक्ति प्रेम-पथ का, परमात्मा-पथ का सच्चा पथिक बन सकता है। प्रेम ही वह औषधि है, जिससे परमात्मा के द्वार तक पहुँचा जा सकता है। इसलिए हर धर्म के सन्त एवं चिन्तक सरलता, सात्त्विकता और विनम्रता को ही अपनाने की बातें करते हैं। यहाँ तक कि सांसारिक प्रेम में भी टेढ़ापन बर्दाश्त नहीं। 'प्रेम की पीर' के कवि घनानन्द की एक कविता है–

अति सूधो सनेह को मारग है
जहाँ नेकु सयानप बाँक नहीं।
तहाँ साँचे चलैं तजि अपनापौ
झझकैं कपटी जे निसाँक नहीं।।

सरलता पुण्य है, ऋजुता धर्म है, प्रकाश है। वक्रता पाप है, टेढ़ापन अन्धकार है। वक्रगति से चलनेवाला शोषक होता है, जोंक है। टेढ़ी चाल वाला जहर बाँटता है। साँप टेढ़ी गति से चलता है। वक्रता हिंसक होती है। कहा गया है– '**जुहुराणम् एनः**' – टेढ़ा चलना पाप है। पर जो सीधे चलते हैं, सरल होते हैं, वे पुण्य और धर्म का प्रकाश फैलाते हैं।

हमारे यहाँ विप्र को सरल, सात्त्विक, सदाचारी और पवित्र कहा जाता है। परम पद को दरसाने वाले विप्र सरल और सात्त्विक होने के चलते ही अहिंसक थे। विप्र अहिंसक, सर्वभूतहिते रत, परोपकारी और कल्याणकारी होते थे। ब्राह्मण का अर्थ है– ब्रह्म से, महान् से, व्यापक से सम्बन्ध करनेवाला। ब्राह्मण संकीर्ण नहीं, उदार और समदर्शी होता है। यही पण्डित का भी अर्थ है। पण्डा बुद्धि से परमात्मा का साक्षात्कार करनेवाला। विप्र को वेद में '**ऋजुदीध्यानो**' ऋजु ध्यानवाला कहा गया है। गीता में पण्डित को समदर्शी कहा गया है–

विद्या-विनय-सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।।
(गीता : ५.१८)

सबको एक दृष्टि से देखनेवाला ही पण्डित है, ब्राह्मण है, विप्र है। उसमें भेद और विषमता नहीं होती।

विप्र का अर्थ है– व्यापक बुद्धिवाला, प्रकृष्ट प्रज्ञावाला, विशिष्ट प्रज्ञावाला, खुले मस्तिष्कवाला, उदार चरितवाला। विप्र को मतान्ध, कुण्ठित और संकुचित नहीं होना चाहिए। आज विप्रत्व भी खतरे में है। विप्र संकुचित होते जा रहे हैं। उनकी व्यापकता सिमटती जा रही है। वे भी घेरा को पसन्द करने लगे हैं। विप्रत्व दिव्यत्व का जनक होता है। उसमें फैलाव होता है, विस्तार होता है। यह विप्रत्व कब प्राप्त होता है? यह तब प्राप्त होता है, जब व्यक्ति ऋजु ध्यान करता है, तप करता है; वेदों का निरन्तर और सम्यक् अध्ययन करते-करते उसकी आन्तरिक मलिनता जब जलकर भस्म हो जाती है, तब उसमें

ऋजुता आती है, समदर्शिता आती है। तब वह विप्रत्व का अधिकारी होता है। सरल, सात्त्विक हृदय से एकान्त में, तपोवन में तप और साधना से अपनी मेधा को, धी को, मनीषा को प्रकृष्ट बनाता है, तब उसे विप्रत्व की प्राप्ति होती है।

ऋत की मेधा का जिसने ग्रहण कर लिया, वही प्रज्ञा का प्रकाश पाता है। प्रज्ञा के प्रकाश में ही विप्रत्व प्राप्त होता है। इसलिए हम कह सकते हैं कि ऋजुता प्रकाश है, सरलता प्रकाश है। सहजता में दिव्यता है। दूसरी ओर वक्रता अन्धकार है, टेढ़ापन अन्धकार है। विप्रत्व के तीन स्तर हैं– धी, मेधा और प्रज्ञा। प्रारम्भ में धी, उसके बाद मेधा और अन्त में प्रज्ञा। इन तीनों स्तरों की प्राप्ति सरलता, सात्त्विकता और ऋजुता से ही सम्भव है।

हमारे वैदिक ऋषियों ने अच्छी तरह जान लिया था, परख लिया था कि मनुष्य स्वभाव से निम्नता की ओर लुढ़कता जाता है। पानी की गति की तरह मन की भी निम्न गति है। अतः मानव को मानव बनाने के लिए उन्होंने तप किया, ज्ञान हस्तगत किया और अपने अनुभवों को वेदों में व्यक्त किया। उन्होंने कुछ संस्कार निश्चित किए, जिनसे मनुष्य और दिव्य बन सके। हमारा शरीर सबल हो, प्राण परिपक्व हो, मन दिव्य हो, बुद्धि पवित्र हो, मेधा परिपुष्ट हो। बुद्धि की पवित्रता के लिए संयम, सारल्य और सात्त्विकता अनिवार्य हैं। इनसे हृदय का विकास होता है, प्रज्ञा का प्रकाश फैलता है।

अथर्ववेद के ऋषि ने इसीलिए मस्तिष्क के विकास के साथ-साथ हृदय के विकास और विस्तार पर ध्यान दिया और बताया कि मस्तिष्क और हृदय को सीकर एक कर ले; विज्ञान तथा श्रद्धाभाव का समन्वय कर अपनी जीवनयात्रा शुरू कर। इससे शान्ति तेरी चिर संगिनी बनी रहेगी– '**मूर्धामनस्य संसीव्या अथर्वाहृदयं च यत्।**'– हे मानव! अकेला विज्ञान तुझे शान्ति नहीं देगा। विज्ञान जटिलता देता है, हृदय सरलता प्रदान करता है। अतः हृदय का विकास कर, सरल, ऋजु, उदार और प्रकाश का पक्षधर बन।

ऋग्वेद में यज्ञ की महिमा का वर्णन है। आर्यजीवन में यज्ञ का बड़ा महत्त्व है। 'यज्' धातु के तीन अर्थ होते हैं– पूजा, संगतिकरण और दान। परमात्मा-परमेश्वर की पूजा-प्रार्थना, सबके साथ समरस होना और दान देना– ये तीनों आर्यजीवन अर्थात् ऋषि-संस्कृति की श्रेष्ठ पहचान हैं। इसीलिए मनु ने भी अन्तिम साधन यज्ञ को माना है। यही आर्यजीवन का वैशिष्ट्य है। वेदों में बार-बार प्रार्थना की गई है कि हमारा जीवन शोभन यज्ञ से, सुन्दर यज्ञ से, सध्वर से पूर्ण हो।

सध्वर का अर्थ है– सु+अध्वर। 'सु' माने शोभन, सुन्दर तथा 'अध्वर' माने ध्वररहित, हिंसा-कुटिलता-वक्रता से रहित। यज्ञ में सरलता, समर्पण और अहिंसा आनिवार्य हैं। इसका सीधा तात्पर्य है कि हमारे जीवन में यदि सरलता, सात्त्विकता और अहिंसा के साथ-साथ सत्यता है तो हमारा जीवन एक शोभन और सुन्दर यज्ञ बन जाएगा। जीवन को यज्ञ बनाने का उत्कृष्टतम साधन सरलता और सात्त्विकता है। ऐसा करके ही हम मानव-जीवन को धन्य बना सकते हैं; हमारा जीवन उदात्त और उत्कृष्ट बन सकता है; हम आसानी से इस दिव्य यज्ञीय नाव द्वारा संसार-सागर को पार कर परमात्मा के पावन एवं प्रेममय लोक में पहुँचकर शाश्वत शान्ति प्राप्त कर सकते हैं।

अशिव से हटकर शिव की ओर, पाप से हटकर पुण्य की ओर, अन्धकार से हटकर प्रकाश की ओर ले चलने का मार्ग यही है। ऋजुता और पवित्रता इन दो किनारों के बीच से यज्ञीय नाव पर सवार होकर ही हम अपने लक्ष्य पर पहुँच सकते हैं। युद्ध, हिंसा और आतंक के इस विनाशक तथा भयावह युग में सरलता, सात्त्विकता और

संयमशीलता को अपनाकर ही हम पाप-ताप से बचकर प्रेममय जीवन जी सकते हैं।

मानव-जाति की जययात्रा तभी निरापद होगी, जब हम कृत्रिमता-कुटिलता से परहेज करेंगे और शुद्ध-सात्त्विक जीवन जीने की आदत डालेंगे। हमारा जीवन तभी ऊर्ध्वगामी होगा, ऊपर उठेगा। हमें पशुता से ऊपर उठना है, राक्षसता से ऊपर उठना है, पार्थिवता से ऊपर उठना है और ऊपर उठना है अन्धकार से, संकुचितता से, संकीर्णता से, कुण्ठा से। हमें इन्द्रियों की अन्धी गलियों से बाहर निकलना है और पावनता तथा प्रकाश के लोक में पहुँचना है। यही आर्यत्व है, यही दिव्यत्व है, यही ऋजुत्व है।

आर्य-जीवन में इसीलिए सरलता, सात्त्विकता और उच्च विचार का, भद्र भाव का, शुभ का विशेष महत्त्व है।

सरलता ही आर्य-संस्कृति की शोभा है, ऋजुता ही ऋषित्व है। आज हमारे जीवन में जो जटिलता-कठिनता-कृत्रिमता आई है, हिंसा, भय और आतंक की जो बहुलता आई है, इनके मूल में इसी सरलता-सात्त्विकता का अभाव है; विनम्रता, विमलता और अहिंसा-अध्वरता का अभाव है। आएँ; सरलता, सात्त्विकता तथा अहिंसा-भावना के साथ-साथ सेवा-भावना को अपनाकर हम इसी धरती को दिव्य बनाएँ और देवत्व-दिव्यत्व को इसके विस्तृत वक्ष पर उतारें। सरल जीवन, संयमित जीवन और सात्त्विक जीवन जीते हुए अपने में भद्र भावों, शुभ भावों को भरें, ताकि तेजी से विनष्ट होती हुई आर्य-संस्कृति की हम रक्षा करने में समर्थ हो सकें।

ध्यान रहे; आर्यत्व ही, हिन्दुत्व ही, दिव्यत्व ही विश्व को विनाश से बचा सकता है। हम प्रयत्न करें कि मानवता का यह दिव्य आधार– आर्यत्व मिटे नहीं। सरलता ही जीवन की सफलता की कुंजी है, सात्त्विकता ही मानवता का आधार है। इसकी संरक्षा हमारा और आपका दायित्व है। यह सरलता-सात्त्विकता ही मानव की आध्यात्मिक-आत्मिक उन्नति और उसके उत्थान का आधार है। यही हमारे उन्नत सांस्कृतिक सोच का आधार है। यही वैष्णवता है, यही व्यापकता है, यही पवित्रता है और यही मानवता है। यही शुभ है, यही उपास्य है। इसी में हमारा और सारे विश्व का त्राण है। जय भारत! जय आर्यत्व!

ऋतम्भरा, शान्तिपुरी,
पो०- मोतीहारी, पूर्वचम्पारण (बिहार),
पिनकोड- २४५४०१

बरनों बाल-भेष मुरारि।
थकित जित-तित अमर-मुनि-गन नन्दलाल निहारि।।
केस सिर बिन पवन के चहुँ दिसा छिटके झारि। सीस पर धरे जटा मानो रूप किय त्रिपुरारि।।
तिलक ललित ललाट केसरि बिन्दु सोभाकारि। अरुन रेखा जनु त्रिलोचन रह्यो निज पुर जारि।।
कण्ठ कठुला नील मनि, अम्भोज-माल सँवारि। गरल ग्रीव कपाल उर यहि भाय भये मदनारि।।
कुटिल हरि नख हिये हरि के हरषि निरखति नारि। ईस जनु रजनीस राख्यो भालहू ते उतारि।।
सदन-रज तन स्याम सोभित सुभग इहि अनुहारि। मनहु अंग बिभूति, राजत सम्भु सो मधु-हारि।।
त्रिदसपति-पति असन को अति जननि सों करि आरि। 'सूरदास' बिरंचि जाको जपत निज मुख चारि।।

भरत और भरद्वाज के आख्यान

आचार्य किशोर कुणाल

अपने देश भारत का नामकरण भरत पर हुआ है। कुछ ग्रन्थों के अनुसार दुष्यन्तपुत्र भरत के नाम पर भारतवर्ष नाम पड़ा है, तो कुछ ग्रन्थों के अनुसार ऋषभपुत्र भरत के नाम पर। दौष्यन्ति भरत की गाथा महाभारत, भागवत आदि अनेक पुराणों में वर्णित है और कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' के कारण भरत की जन्म-कथा विश्वविख्यात हो चुकी है। ऋषभपुत्र भरत की कथा भागवत एवं अन्य पुराणों में मिलती है और वे ऐसे वीतराग, निःस्पृह, भागवत, भक्त माने गए कि 'जड भरत' से भी अभिहित हुए।

यहाँ पर दुष्यन्त-तनय भरत का विलक्षण व्यक्तित्व प्रस्तुत किया जा रहा है, जिनके बारे में भागवतकार ने लिखा है–

पितर्युपरते सोऽपि चक्रवर्ती महायशाः।
महिमा गीयते तस्य हरेरंशभुवो भुवि।।
चक्रं दक्षिणहस्तेऽस्य पद्मकोशोऽस्य पादयोः।
ईजे महाभिषेकेण सोऽभिषिक्तोऽधिराड् विभुः।।

(भागवत : ९.२०.२३-२४)

पिता दुष्यन्त के निधन के बाद वह परम यशस्वी बालक चक्रवर्ती सम्राट् बना। भगवान् के अंश से उनका आविर्भाव हुआ था। आज भी पूरी पृथ्वी पर उनकी महिमा गाई जाती है। उनके दाहिने हाथ में चक्र का चिह्न था और दोनों चरणों में कमल-कोश का। महाभिषेक-विधि से राजाधिराज पद पर विभव-सम्पन्न भरत का अभिषेक हुआ था।

सम्राट् भरत ने बहुत सारे अश्वमेध यज्ञ किए और प्रभूत दान किया। भागवतकार आगे लिखते हैं कि भरत ने जो भव्य कार्य किया, वह न तो अतीत में कोई कर सका था और न ही भविष्य में कोई कर सकेगा। क्या कोई कभी स्वर्ग को हाथ से छू सकता है?

भरतस्य महत् कर्म न पूर्वे नापरे नृपाः।
नैवापुर्नैव प्राप्स्यन्ति बाहुभ्यां त्रिदिवं यथा।।

(९.२०.२९)

चक्रवर्ती सम्राट् ने दिग्विजय-क्रम में सभी रिपुओं को परास्त किया। अतीत में देवताओं को पराजित कर असुर जिन देवांगनाओं को रसातल ले गए थे, भरत ने उन सबको मुक्त किया। उनके राज्य में प्रजा की सारी आवश्यकताएँ पृथ्वी और आकाश द्वारा पूर्ण कर दी जाती थीं। भरत ने चक्रवर्ती राजा के रूप में २७ हजार वर्ष तक शासन किया।

जित्वा पुरासुरा देवान् ये रसौकांसि भेजिरे।
देवस्त्रियो रसां नीताः प्राणिभिः पुनराहरत्।।
सर्वकामान् दुदुहतुः प्रजानां तस्य रोदसी।
समास्त्रिणवसाहस्त्रीर्दिक्षु चक्रमवर्तयत्।।

(९.२०.३१-३२)

चक्रवर्ती सम्राट् भरत ययातिवंश में उत्पन्न दुष्यन्त के पुत्र थे। एक बार जब कण्व ऋषि के आश्रम में दुष्यन्त गए थे, तब ऋषि की अनुपस्थिति में दुष्यन्त एवं शकुन्तला के बीच प्रणय-प्रसंग हुआ था, जिसकी परिणति गान्धर्व रीति से परिणय एवं शरीर-समागम में हुई थी, जिससे शकुन्तला गर्भवती हुई और महाभारत तथा पुराणों के आख्यानों के आधार पर कण्व ऋषि के आश्रम में ही उसने एक

बालक का जन्म दिया, जिसका नाम सर्वदमन इसलिए पड़ा कि वह सभी बलशाली प्राणियों का दमन अत्यन्त सहजता से कर दिया करता था।

अस्त्वयं सर्वदमनः सर्वं हि दमयत्यसौ।
स सर्वदमनो नाम कुमारः समपद्यत।।

(महाभारत आदि० : ७४.८)

जैसे वाल्मीकि के आश्रम में कुश-लव की शास्त्रों एवं शस्त्रों में शिक्षा-दीक्षा हुई थी, वैसे ही कण्व ऋषि ने भी सर्वदमन को सर्वगुण-सम्पन्न बनाने का प्रयत्न किया। बारह वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला की सुधि न लेने के कारण महर्षि ने अपने शिष्यों के साथ शकुन्तला एवं बालक सर्वदमन को राजा दुष्यन्त के पास भेजा। किन्तु शकुन्तला के प्रणय-प्रसंग को दुष्यन्त विस्मृत कर चुका था और उसने माता एवं पुत्र को अपनाने से इनकार कर दिया। इस पर आकाशवाणी हुई– 'दुष्यन्त! शकुन्तला सत्य कहती है। तुमने ही इसके गर्भ का आधान किया था। अतः तुम ही शकुन्तला से उत्पन्न अपने पुत्र का पालन-पोषण करो। हम देवताओं के वचन पर तुम इसका भरण-पोषण करोगे, अतः तुम्हारा यह तनय भरत के नाम से विख्यात होगा।'

तस्माद् भरस्व दुष्यन्त पुत्रं शाकुन्तलं नृप।।११३।।
भर्तव्योऽयं त्वया यस्मादस्माकं वचनादपि।
तस्माद् भवत्वयं नाम्ना भरतो नाम ते सुतः।।११४।।

(महाभारत, आदि० : ७४ वाँ अध्याय)

इस आकाशवाणी से दुष्यन्त ने अत्यन्त प्रसन्न होकर घोषणा की कि यदि मैं आकाशवाणी के बिना ही शकुन्तला को अपना लेता तो लोग संशय की दृष्टि से देखते। किन्तु दुष्यन्त ने यह स्पष्टीकरण नहीं दिया कि बारह वर्षों तक वे शकुन्तला की सुधि क्यों नहीं ले सके। शायद यही कारण था कि कालिदास ने दुर्वासा का शाप एवं अँगूठी खो जाने की घटना को बीच में लाकर दुष्यन्त की बेवफाई का कलंक धोने का ऐसा कमाल कर दिया कि उनका नाटक संसार के श्रेष्ठ नाटकों में गिना जाता है।

शकुन्तला-दुष्यन्त की कालिदासीय कथा से पाठक इतने अभिज्ञ हैं कि उसका विस्तृत उल्लेख नहीं किया जा रहा है; किन्तु दुष्यन्त-शकुन्तला प्रणय-प्रसंग के एक पक्ष को अवश्य स्पष्ट किया जा रहा है कि मेनका के कामपाश में फँसने के पूर्व ही विश्वामित्र ब्रह्मर्षि हो चुके थे; अतः शकुन्तला क्षत्रियकन्या न होकर ब्रह्मर्षिकन्या थी। विश्वामित्र बहुत पहले ही ब्रह्मर्षि हो चुके थे और ऋग्वेद का तृतीय मण्डल तथा प्रसिद्ध गायत्री मन्त्र के वे स्रष्टा-द्रष्टा बन चुके थे। महाभारत में यह स्पष्ट उल्लेख है कि विश्वामित्र को तपोभ्रष्ट करने के लिए जब मेनका को भेजने का आदेश इन्द्र ने दिया था, तब उसने इन्द्र को विश्वामित्र के बल एवं कोप के बारे में अनेक दृष्टान्त दिए थे, जिनमें एक यह भी था–

क्षत्रजातश्च यः पूर्वमभवद् ब्राह्मणो बलात्।।

(महाभारत आदि० : ७२.२६)

यानी जो क्षत्रिय-कुल में उत्पन्न होकर तपोबल से पहले ही ब्राह्मण बन चुके थे।

मेनका के अभियान के पूर्व ही विश्वामित्र ब्रह्मर्षि बन चुके थे, अतः उनकी मेनका से उत्पन्न कन्या शकुन्तला क्षत्रिय नहीं मानी जा सकती है। इस तरह यह विवाह भी प्रतिलोम विवाह का उदाहरण है। जैसे शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी का विवाह राजा ययाति से हुआ; शुकदेव मुनि की कन्या का परिणय पंचालनरेश से हुआ; वैसे ही ब्रह्मर्षि विश्वामित्र की पुत्री शकुन्तला दुष्यन्त के साथ प्रतिलोम परिणय के सूत्र में आबद्ध हुई थी और इसमें कोई शास्त्रीय व्यवधान नहीं था; क्योंकि हमारे ऋषियों के विचार उदार थे, उनकी दूरदृष्टि थी।

मेनका विश्वामित्र के प्रणय-प्रसंग में एक और भ्रान्ति है कि विश्वामित्र जब ब्रह्मर्षिपद प्राप्त करने के लिए तपस्यारत थे, तब उसमें विघ्न डालने

के लिए मेनका भेजी गई थी। उपर्युक्त महाभारतीय प्रमाण से यह स्पष्ट हो चुका है कि इसके बहुत पहले ही विश्वामित्र ब्रह्मर्षि बन चुके थे; अतः इस तपस्या का लक्ष्य ब्रह्मर्षिपद पाना नहीं था। महाभारत में यह स्पष्ट किया गया है कि विश्वामित्र की तपस्या से इन्द्र को यह भय हो गया था कि इस तपस्या से और अधिक शक्तिशाली बनकर ये मुझे अपने स्थान इन्द्रासन से च्युत नहीं कर दें, अतः इन्द्र ने मेनका के समक्ष यह प्रस्ताव रखा था-

तपसा दीप्तवीर्योऽयं स्थानान्मां च्यावयेदिति।
भीतः पुरन्दरस्तस्मान्मेनकामिदमब्रवीत्।।

(महाभारत, आदि० : ७१.२१)

चक्रवर्ती सम्राट् भरत विलक्षण व्यक्तित्व के धनी थे। विश्व-इतिहास में ऐसे दृष्टान्त विरले मिलते हैं, जब कोई सम्राट् अपने पुत्रों की उपेक्षा कर एक परित्यक्त, अनाथ बालक को राजसिंहासन का उत्तराधिकारी घोषित कर दे। महाभारत (आदि० : ९४.१९-२३) भागवत (९.२०) वायुपुराण (९९ वाँ अध्याय) विष्णुपुराण (४.१९.१०-१६), मत्स्यपुराण (४९ वाँ अध्याय) आदि के वृत्तान्त से इस अल्प ज्ञात उपाख्यान का पूर्ण ज्ञान होता है।

महाभारत के आदिपर्व के ९४ वें अध्याय में पुरुवंश के वर्णन में निम्नलिखित वृत्तान्त प्राप्त होता है–

दुष्यन्ताद् भरतो जज्ञे विद्वाञ्छाकुन्तलो नृपः।
तस्माद् भरतवंशस्य विप्रतस्थे महद् यशः।।१९।।

दुष्यन्त से विद्वान् नरेश भरत का जन्म हुआ, जो शकुन्तला के पुत्र थे। उन्हीं से भरतवंश का महान् यश प्रसृत हुआ।

भरतस्तिसृषु स्त्रीषु नव पुत्रानजीजनत्।
नाभ्यनन्दयत तान् राजा नानुरूपा ममेत्युत।।२०।।

भरत ने अपनी तीन रानियों से नौ पुत्र उत्पन्न किएः किन्तु 'वे मेरे अनुरूप नहीं हैं', ऐसा कहकर राजा ने उन पुत्रों का अभिनन्दन नहीं किया।

ततस्तान् मातरः क्रुद्धाः पुत्रान् निन्युर्यमक्षयम्।
ततस्तस्य नरेन्द्रस्य वितथं पुत्रजन्म तत्।।२१।।

इससे उन शिशुओं की माताओं ने कुपित होकर उनकी इहलीला समाप्त कर दी, जिससे राजा भरत की पुत्रोत्पत्ति व्यर्थ हो गई।

ततो महद्भिः क्रतुभिरीजानो भरतस्तदा।
लेभे पुत्रं भरद्वाजाद् भुमन्युं नाम भारत।।२२।।

हे भरतवंशी जनमेजय! तदनन्तर भरत ने बड़े-बड़े यज्ञों का अनुष्ठान किया और भरद्वाज से एक पुत्र प्राप्त किया, जिसका नाम भुमन्यु था।

ततः पुत्रिणमात्मानं ज्ञात्वा पौरवनन्दनः।
भुमन्युं भरतश्रेष्ठ यौवराज्येऽभ्यषेचयत्।।२३।।

हे भरतश्रेष्ठ! तब पौरव-कुलनन्दन भरत ने अपने को पुत्रवान् समझकर भुमन्यु को युवराज पद पर अभिषिक्त किया।

भागवत के नवमस्कन्ध के २० वें अध्याय में यह वृत्तान्त इस प्रकार है–

स सम्राड् लोकपालाख्यमैश्वर्यमधिराट् श्रियम्।
चक्रं चास्खलितं प्राणान् मृषेत्युपरराम ह।।३३।।

अन्त में चक्रवर्ती सम्राट् भरत ने यह निश्चय किया कि लोकपालों को भी चकित कर देनेवाला ऐश्वर्य, अकूत सम्पत्ति, अखण्ड शासन और जीवन ये सब निष्प्रयोजन हैं; अतः वे विरक्त हो गए।

तस्यासन् नृप वैदर्भ्यः पत्न्यस्तिस्रः सुसम्मताः।
जघ्नुस्त्यागभयात् पुत्रान् नानुरूपा इतीरिते।।३४।।

हे राजन्! विदर्भराज की तीन कन्याएँ भरत की भार्याएँ थीं, जिनका सम्मान वे करते थे। किन्तु एक बार जब भरत ने यह कह दिया कि 'ये मेरे अनुरूप नहीं हैं', तब इस भय से कि कहीं सम्राट् हमें नहीं त्याग दें, उन्होंने अपने बच्चों का वध करवा डाला।

धर्मशास्त्र में वध और त्याग का समान महत्त्व होता है, जो वाल्मीकि-रामायण के उत्तरकाण्ड में दुर्वासा के प्रसंग में लक्ष्मण के त्याग से स्पष्ट होता

है। अतः यह आशय है कि उन रानियों ने बच्चों का त्याग कर दिया। कोई भी माता इतनी क्रूर नहीं हो सकती कि अपने पति के एक वाक्य पर अपने तीन-तीन पुत्रों का वध कर दे; अतः पुत्रों का त्याग कर दिया, यही अर्थ समझना चाहिए।

तस्यैवं वितथे वंशे तदर्थं यजतः सुतम्।
मरुत्स्तोमेन मरुतो भरद्वाजमुपाददुः।।३५।।

इस प्रकार सम्राट् भरत का वंश वितथ यानी विच्छिन्न होने लगा; तब उन्होंने सन्तानप्राप्ति के लिए 'मरुत्स्तोम' यज्ञ किया, जिससे प्रसन्न होकर मरुद्गणों ने भरत को भरद्वाज नामक पुत्र दिया।

अन्तर्वत्न्यां भ्रातृपत्न्यां मैथुनाय बृहस्पतिः।
प्रवृत्तो वारितो गर्भं शप्त्वा वीर्यमवासृजत्।।३६।।
तं त्यक्तुकामां ममतां भर्तृत्यागविशङ्किताम्।
नामनिर्वचनं तस्य श्लोकमेनं सुरा जगुः।।३७।।

भरद्वाज का जन्म बृहस्पति के वीर्य से अग्रज तथ्य की पत्नी ममता के गर्भ से हुआ था। उस समय ममता के गर्भ में अपने पति का शिशु पल रहा था। उसने बृहस्पति के सहवास का विरोध किया तो उसे अभिशप्त होकर अन्धा होना पड़ा और वही शिशु बाद में दीर्घतमा ऋषि के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अपने पति द्वारा परित्यक्त किए जाने के भय से ममता ने इस शिशु का परित्याग करना चाहा। उसी समय गर्भस्थ शिशु के नाम का निर्वचन करते हुए देवताओं ने यह श्लोक कहा–

मूढे भर द्वाजमिमं भर द्वाजं बृहस्पते।
यातौ यदुक्त्वा पितरौ भरद्वाजस्ततस्त्वयम्।।३८।।

बृहस्पति ने ममता से कहा– 'भर' यानी इसका भरण-पोषण कर, क्योंकि यह 'द्वाज' यानी दो से जन्मा है; (यह मेरा औरस और भाई का क्षेत्रज पुत्र है)।

इस पर ममता ने बृहस्पति से कहा– 'इस द्वाज का भरण-पोषण तू कर।' इस प्रकार, दोनों तू-तू मैं-मैं करके भरद्वाज को वहीं छोड़कर चलते बने। इस प्रकार, उस बालक का नाम भरद्वाज पड़ा।

भागवतकार आगे बतलाते हैं–

चोद्यमाना सुरैरेवं मत्वा वितथमात्मजम्।
व्यसृजन् मरुतोऽबिभ्रन् दत्तोऽयं वितथेऽन्वये।।३६।।

देवताओं के कहने पर भी ममता ने इस सुत को व्यर्थ समझते हुए छोड़ दिया, इसी परित्यक्त बाल को मरुद्गणों ने लाकर सम्राट् भरत को सौंप दिया और भरत ने उसे अपना उत्तराधिकारी घोषित करते हुए दत्तक पुत्र बना लिया।

वितथ भरद्वाज के पुत्र का नाम मन्यु था, जिसका पौत्र प्रतापी, धर्मात्मा राजा रन्तिदेव नाम से विख्यात हुआ।

इस प्रकार, माता-पिता से परित्यक्त अनाथ बालक वितथ भरद्वाज भरतवंश का उत्तराधिकारी हुआ। चूँकि इस महान् ऐतिहासिक घटना का ज्ञान भारतीयों को अत्यल्प है; अतः इस प्रसंग में अन्य पुराणों के सुसंगत अंशों को भी यहाँ उद्धृत किया जा रहा है। वायुपुराण में यह विवरण इस प्रकार है–

भरतस्तिसृषु स्त्रीषु नव पुत्रानजीजनत्।
नाभ्यनन्दच्च तान् राजा नानुरूपान् ममेत्युत।।१३७।।
ततस्ता मातरः क्रुद्धाः पुत्रान्निन्युर्यमक्षयम्।
ततस्तस्य नरेन्द्रस्य वितथं पुत्रजन्म तत्।।१३८।।
ततो मरुद्भिरानीय पुत्रस्तु स बृहस्पतेः।
संक्रामितो भरद्वाजो मरुद्भिः क्रतुभिर्विभुः।।१३६।।

भरत ने अपनी तीन पत्नियों से नौ पुत्रों को उत्पन्न किया; किन्तु ये मेरे अनुरूप नहीं हैं –यह कहकर उन्होंने उनका अभिनन्दन नहीं किया; अतः उनकी माताओं ने उनका हनन या परित्याग कर दिया। इस प्रकार राजा की पुत्रोत्पत्ति व्यर्थ चली गई। तब मरुद्गणों ने बृहस्पति के पुत्र भरद्वाज को लाकर भरत को सौंपा।

इस प्रकार मरुद्गणों द्वारा यज्ञों के माध्यम से समर्थ भरद्वाज भरतवंश में स्थापित हुए।

मत्स्यपुराण के ४६ वें अध्याय में इस वृत्तान्त का वर्णन है–

भरतस्य विनष्टेषु तनयेषु पुरा किल।
पुत्राणां मातृकात् कोपात् सुमहान् संक्षयः कृतः।।१४।।
ततो मरुद्भिरानीय पुत्रः स तु बृहस्पतेः।
संक्रामितो भरद्वाजो मरुद्भिर्भरतस्य तु।।१५।।

मातृकोप के कारण भरत के पुत्रों के नष्ट हो जाने पर मरुद्गणों ने बृहस्पति के पुत्र भरद्वाज को लाकर भरतवंश में संस्थापित कर दिया।

बृहस्पति द्वारा ममता के गर्भ में वीर्याधान एवं भरद्वाज के जन्म का वर्णन भागवत एवं मत्स्यपुराण के अनुरूप है। मत्स्यपुराण में आगे वर्णन है कि शिशु भरद्वाज को माता-पिता दोनों ने त्याग दिया था; तब मरुद्गणों ने कृपा करके उसे अपने पास रख लिया।

मातापितृभ्यां त्यक्तं तु दृष्ट्वा तं मरुतः शिशुम्।
जगृहुस्तं भरद्वाजं मरुतः कृपया स्थिताः।।२६।।

उस समय समर्थ भरत पुत्रप्राप्ति हेतु अनेक यज्ञ कर रहे थे; किन्तु जब यज्ञ से उनकी कामना सिद्ध नहीं हुई, तब मरुद्गण उस शिशु भरद्वाज को मरुत्सोम यज्ञ में ले आए। आगे का वर्णन है–

तस्मिन् काले तु भरतो बहुभिर्ऋतुभिर्विभुः।
पुत्रनैमित्तिकैर्यज्ञैरयजत् पुत्रलिप्सया।।२७।।

उन दिनों महान् ऐश्वर्यशाली राजा भरत पुत्रप्राप्ति की इच्छा से अनेक ऋतुओं में सम्पादनीय यज्ञ (पुत्रप्राप्ति के लिए) कर रहे थे।

यदा स यजमानस्तु पुत्रं नासदयत् प्रभुः।
ततः क्रतुं मरुत्सोमं पुत्रार्थे समुपाहरत्।।२८।।

यज्ञ करते हुए भी जब राजा को पुत्रप्राप्ति नहीं हुई, तब उन्होंने पुत्र के लिए 'मरुत्सोम' नाम यज्ञ की तैयारी की।

तेन ते मरुतस्तस्य मरुत्सोमेन तुष्टुवुः।
उपनिन्युर्भरद्वाजं पुत्रार्थं भरताय वै।।२९।।

उस 'मरुत्सोम' यज्ञ से मरुद्गण प्रसन्न हुए और उन्होंने पुत्र के रूप में भरद्वाज को भरत के लिए लाकर दिया।

दायादोऽङ्गिरसः सूनोरौरसस्तु बृहस्पतेः।
संक्रामितो भरद्वाजो मरुद्भिर्भरतं प्रति।।३०।।

वे भरद्वाज, जो बृहस्पति के औरस पुत्र थे और अंगिरा के उत्तराधिकारी थे, भरत के समीप मरुद्गण द्वारा लाए गए।

भरतस्तु भरद्वाजं पुत्रं प्राप्य विभुर्ब्रवीत्।
आदावात्महिताय त्वं कृतार्थोऽहं त्वया विभो।।३१।।

भरद्वाज को पुत्ररूप में पाकर राजा भरत ने कहा– सर्वप्रथम आपने मेरा कल्याण किया है, अतः आपको पाकर मैं कृतार्थ हूँ।

पूर्वं तु वितथे तस्मिन् कृते वै पुत्रजन्मनि।
ततस्तु वितथो नाम भरद्वाजो नृपोऽभवत्।।३२।।

पहले 'पुत्रजन्म' की परम्परा वितथ अर्थात् विच्छिन्न हो गई थी, अतः भरद्वाज 'वितथ' नाम से प्रसिद्ध राजा हुए।

तस्मादपि भरद्वाजाद् ब्राह्मणाः क्षत्रिया भुवि।
द्व्यामुष्यायणकौलीनाः स्मृतास्ते द्विविधेन च।।३३।।

इस भरद्वाज के कारण भी पृथ्वी पर ब्राह्मण एवं क्षत्रिय दो कुलों से सम्बन्ध रखनेवाले, अथवा मूल पिता एवं पालक पिता की सम्पत्तियों के साथ-साथ उत्तराधिकारी कहे गए हैं।

ततो जाते हि वितथे भरतश्च दिवं ययौ।
भरद्वाजो दिवं यातो ह्यभिषिच्य सुतं ऋषिः।
दायादो वितथस्यासीद् भुवमन्युर्महायशाः।।३४।।

इसके बाद वितथ जब राजा बन गए, तब भरत स्वर्गलोक सिधारे। ऋषि भरद्वाज भी अपने पुत्र का अभिषेक कर स्वर्ग गए। वितथ के उत्तराधिकारी महान् कीर्तिवाले 'भुवमन्यु' थे।

इन पौराणिक आख्यानों से यह स्पष्ट है कि चक्रवर्ती सम्राट् भरत ने एक परित्यक्त, अनाथ बालक भरद्वाज को अपना उत्तराधिकारी और

भारतवर्ष के राजसिंहासन का भावी अधिकारी घोषित किया। ऐसा साहसिक निर्णय भरत-जैसे महान् सम्राट् ही ले सकते हैं। अतः भागवतकार ने लिखा कि न अतीत में ऐसा सम्राट् हुआ और न भविष्य में ऐसा कोई हो पाएगा; क्योंकि आकाश के स्पर्श की क्षमता किसमें होगी?

वेदज्ञ दिवेकर ने 'ऋग्वेद सूक्त-विकास (पृ० ६७-६८) में लिखा है– "शाकुन्तलेय भरत सम्राट् ने जब किसी ब्राह्मण को युवराज बनाकर अपना उत्तराधिकारी करना चाहा, तब यही द्वितीय भरद्वाज, अन्य ब्राह्मणों का-सा राज्य संचालन की उत्तरदायिता को स्वीकार करने में डरा नहीं। इसने खुशी से उसे स्वीकारा और इस शर्त पर कि वह तथा उसके वंशज दोनों वर्णों के माने जाएँ, उसने भरत का उत्तराधिकारी बनना मान लिया। क्षत्रोपेत ब्राह्मणों का अस्तित्व तभी से माना गया। तब से ही भरद्वाज अंगिरस् कुल के अतएव आंगिरस और भरतकुल के अतएव भारत कहलाए। तभी से इस द्वितीय भरद्वाज की विदथिन् (वितथी) भरद्वाज नाम से प्रसिद्धि हुई। विदथिन् का अर्थ शासक होता है। किन्तु प्रत्यक्ष राज्य- शासन करने का इसे अवसर न मिला। सम्राट् भरत दीर्घ काल तक जीवित रहा। विदथिन् भरद्वाज प्रत्यक्ष में विदथिन् होने के पूर्व ही परलोक सिधारा और भरत के पश्चात् पौरवराज बना इस भरद्वाज का पुत्र वितथ।"

इसलिए इस कृतज्ञ राष्ट्र में इस देश का नामकरण सम्राट् भरत पर ही भारत पड़ा। मत्स्यपुराण के इसी ४६ वें अध्याय के ११ वें श्लोक में उल्लेख है– '**शकुन्तलायां भरतो यस्य नाम्ना च भारताः।**' यानी शकुन्तला से भरत उत्पन्न हुए, जिनके नाम पर इस देश का नाम भारत पड़ा।

मत्स्यपुराण के अनुसार इस वितथ भरद्वाज के दत्तकपुत्र बन जाने के कारण भरद्वाज ब्राह्मण से क्षत्रिय बने। इन्हीं के प्रपौत्र थे राजा रन्तिदेव, जिन्होंने परोपकार में ही अपनी सारी शक्ति और समय लगाया तथा जिनकी निम्नलिखित घोषणा प्रत्येक परोपकार-रत व्यक्ति की जिह्वा पर विराजमान रहती है–

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्।।
(आर्ष वचन)

रन्तिदेव की कथा महाभारत एवं पुराणों में विस्तारपूर्वक मिलती है। रन्तिदेव के परोपकार की निम्नलिखित कथा भागवत के नवम स्कन्ध के २१ वें अध्याय से ली गई है।

वितथ भरद्वाज के पुत्र का नाम मन्यु था। मन्यु के पाँच पुत्र हुए, जिनमें एक पुत्र नर से संकृति का जन्म हुआ। संकृति के दो पुत्र हुए– नर और रन्तिदेव। भागवतकार लिखते हैं कि रन्तिदेव का यश इस लोक में सर्वत्र गाया जाता है– '**रन्तिदेवस्य हि यश इहामुत्र च गीयते।**'

यानी रन्तिदेव का यश इस लोक में और परलोक में सर्वत्र गाया जाता है।

रन्तिदेव अपरिग्रह में विश्वास करते थे और जो कुछ मिलता, उसे बाँट देते थे। आकाश-वृत्ति की तरह कहीं से कुछ प्राप्त कर लिया तो भोजन कर लेते, अन्यथा सपरिवार कई दिनों तक भूखे रह जाते।

एक बार तो उन्हें सपरिवार लगातार अड़तालीस दिनों तक भूखे रहना पड़ा। ४६ वें दिन जब उन्हें कुछ अन्न-जल मिला और जब वे ग्रहण करने ही वाले थे कि एक ब्राह्मण अतिथि वहाँ पहुँच गया, जिसे उन्होंने उसी अन्न में से भोजन कराया। अतिथि तृप्त होकर चलता बना। तदनन्तर अवशिष्ट भोजन को बाँटकर रन्तिदेव अपना अंश ग्रहण करनेवाले ही थे कि एक दूसरा शूद्र अतिथि आ पहुँचा।

'**हरिं सर्वत्र संपश्यन्**' यानी सर्वत्र हरि का दर्शन करनेवाले रन्तिदेव ने उस शूद्र अतिथि का

भी आदर-सत्कार किया और बचे हुए अन्न से उस अतिथि को भोजन कराया। शूद्र अतिथि के प्रस्थान के तुरत बाद कुत्तों के साथ एक और अतिथि आया, जिसके निवेदन पर रन्तिदेव ने कुत्तों एवं उसके मालिक की क्षुधा शान्त की। तत्पश्चात् रन्तिदेव जल पीकर अपनी प्यास बुझाने जा रहे थे कि सहसा एक चाण्डाल आ गया और उसने जल पिलाने का अनुरोध किया। इसपर रन्तिदेव ने जो वचन कहा वह प्रत्येक परोपकार-पथ के पथिक के लिए पाथेय एवं प्रेरणा-स्रोत है। रन्तिदेव ने कामना की–

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् परा-
मष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजा-
मन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः।।
(९.२१.१२)

ईश्वर से मैं आठों सिद्धियों से युक्त परमगति या मोक्ष की कामना नहीं करता। मेरी कामना है कि मैं सभी प्राणियों के अन्दर स्थित दुःख को समाप्त कर सकूँ।

क्षुत्तृट्श्रमो गात्रपरिश्रमश्च
दैन्यं क्लमः शोकविषादमोहाः।
सर्वे निवृत्ताः कृपणस्य जन्तो-
र्जिजीविषोर्जीवजलार्पणान्मे।।१३।।

इस प्यासे, जिजीविषु दीन जन को जल पिला देने से मेरी क्षुधा, तृषा, श्रम, शारीरिक शिथिलता, दीनता, ग्लानि, शोक, विषाद और मोह– सब मिट गए।

रन्तिदेव ने उस चाण्डाल को श्रद्धापूर्वक जल पिलाया। तदनन्तर दृश्य-परिवर्तन हो गया; वहाँ ब्रह्मा, विष्णु और महेश साक्षात् प्रकट हुए तथा उन्होंने बताया कि ये ही तीनों अतिथि-वेश में रन्तिदेव के परोपकार की परीक्षा लेने आए थे।

इस परीक्षा में रन्तिदेव शत-प्रतिशत अंक से उत्तीर्ण हुए। रन्तिदेव-जैसे परोपकारी राजाओं के पुण्य-प्रताप एवं तेजोबल पर ही भारत सभी देशों में अग्रणी बन सका।

भागवत के इस अध्याय में भरतवंश का और विवरण दिया हुआ है, जिसके अनुसार रन्तिदेव के चाचा गर्ग से शिनि और शिनि से गार्ग्य का जन्म हुआ। यद्यपि गार्ग्य क्षत्रिय थे, फिर भी उनसे ब्राह्मण-वंश चला '**गार्गाच्छिनिस्ततो गार्ग्यः क्षत्रात् ब्रह्म ह्यवर्तत।**' रन्तिदेव के दूसरे चाचा थे दुरितक्षय जिनके तीन पुत्र हुए त्रय्यारुणि, कवि और पुष्करारुणि। ये तीनों ब्राह्मण बन गए– '**पुष्पकारुणिरित्यत्र ये ब्राह्मणगतिं गताः।**'

इस प्रकार जो विद्वान् यह सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं कि वर्ण-परिवर्तन असम्भव था; उन्हें इन सहज वर्ण-परिवर्तन के दृष्टान्तों को ध्यान में रखकर निर्णय लेना चाहिए।

* * *

मनोरथानां न समाप्तिरस्ति वर्षायुतेनापि तथाब्दलक्षैः।
पूर्णेषु पुर्णेषु मनोरथानाम् उत्पत्तयस्सन्ति पुनर्नवानाम्।।

हजारों तथा लाखों वर्षों में भी मनःकामनाओं की पूर्ति नहीं हो सकती है। उनमें से यदि कुछ पूर्ण भी हो जाती हैं तो उनके स्थान पर फिर नई-नई कामनाएँ उत्पन्न होने लगती हैं।

(विष्णुपुराण : ४.२.११६)

भगवान् बुद्ध और उनके सन्देश

डा० एस० एन० पी० सिन्हा

मानव-सभ्यता के विकास में धर्म की बड़ी भूमिका है। भारतवर्ष में धर्म का अर्थ अत्यन्त व्यापक है। धर्म का अर्थ कोई संकीर्ण उपासना-मार्ग न होकर जीवन को धारण करनेवाली शक्ति है– **धर्मो धारयति प्रजाः**। गीता में कहा गया है कि भारत में जब-जब धर्म की हानि होती है, तब-तब धर्म की स्थापना हेतु और अधर्म के विनाश के लिए भगवान् अवतार लेते हैं।

धर्म की स्थापना हेतु न सिर्फ भारत में, बल्कि पूरी दुनिया में महान् चिन्तकों, दार्शनिकों एवं तत्त्वद्रष्टा मीमांसकों का आविर्भाव समय-समय पर होता रहा है। इसी कड़ी में ईसापूर्व में चीन में लाओत्से और कनफ्यूसियस, ग्रीस में परामेन्डीज, ईरान में जरतुश्त तथा भारत में भगवान् महावीर एवं गौतम बुद्ध पैदा हुए, जिन्होंने अपने समय और समाज पर अपने चिन्तन और पवित्र आचरण की गहरी छाप छोड़ी तथा मानवता के उद्धार के लिए अपना जीवन समर्पित किया।

वैशाख पूर्णिमा का बौद्ध धर्म में बड़ा महत्त्व है। बौद्ध धर्मावलम्बियों के लिए यह पवित्र दिन है। इसी दिन गौतम बुद्ध का जन्म हुआ, इसी दिन उन्हें बुद्धत्व (ज्ञान) की प्राप्ति हुई और इसी दिन उनका महानिर्वाण हुआ। इसलिए इस दिन का बौद्ध धर्मदर्शन में विशेष महत्त्व है।

गौतम बुद्ध के बचपन का नाम सिद्धार्थ था। जब बुद्धत्व की प्राप्ति हुई, तब वे बुद्ध कहलाए। उनका जन्म कपिलवस्तु के राजघराने में हुआ था। उनका लालन-पालन बड़े सुख और प्यार से हुआ। उनकी शादी यशोधरा से हुई। यशोधरा से एक पुत्र हुआ, जिसका नाम राहुल था। संसार में जरा, रोग और दुःख देखकर बुद्ध का मन बेचैन रहता था। वे उसका निदान ढूँढ़ने के लिए विकल हुए।

राहुल के पैदा होने पर उन्हें लगा कि उनके लिए सांसारिक बन्धन बढ़ गए। उन्होंने चुपचाप गृह का त्याग किया। अपने राज्य की सीमा पर जाकर राजसी वस्त्र का त्याग कर अपने बाल उन्होंने काट डाले और बन्धनमुक्त होकर संन्यासी वेश में पैदल निकल पड़े।

कपिलवस्तु से वैशाली, राजगृह होते हुए वे गया पहुँचे। घनघोर तपस्या से उनका शरीर क्षीण हो गया। लेकिन उनके भीतर उठ रहे प्रश्नों का समाधान न मिला। तपस्या से जब वे मरणासन्न थे, तब सुजाता नाम की एक लड़की ने खीर खिलाकर उनकी प्राणरक्षा की। फिर बुद्ध बोधगया गए। वहीं बोधिवृक्ष के नीचे उन्होंने ध्यान किया और उन्हें ज्ञान की प्राप्ति हुई। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि संसार में दुःख है, उसका कारण है और उस दुःख का निवारण भी है। बुद्ध के ज्ञान का सार तत्त्व यही है।

बोधगया से बुद्ध वाराणसी के पास सारनाथ गए। वहीं उनका प्रथम उपदेश हुआ। उस समय उनके पाँच शिष्य श्रोता रूप में थे। इन्हीं पाँच शिष्यों में आनन्द था, जो बुद्ध का सबसे प्रिय शिष्य हुआ। अपने प्रथम उपदेश में बुद्ध ने कहा– **चरेत्थ भिक्खवे बहुजनहिताय बहुजनसुखाय** अर्थात् भिक्षुओ! बहुतों के हित और सुख के लिए चलो।

बुद्ध ने प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शक्ति, अपनी क्षमता और ज्ञान पर भरोसा करने को कहा

और कहा कि **अप्पदीपो भव** अर्थात् अपना दीपक आप बनो। कोई भी बात तब तक मत स्वीकार करो, जब तक तुम्हारी आत्मा उसे न स्वीकार करे। वह बात चाहे जिस ग्रन्थ में कहीं गई हो या वह चाहे जितने बड़े व्यक्ति ने कही हो। मेरी भी कही गई बात पर तब तक भरोसा न करो, जब तक तुम्हारी आत्मा उसे न स्वीकार करे।

बुद्ध के पहले भगवान् महावीर ने अनेकान्तवाद की स्थापना की। बुद्ध ने मनुष्य के लिए 'मज्झिम निकाय' यानी मध्यम मार्ग की बात की। मध्यम मार्ग की तुलना उन्होंने वीणा के तार से की। उन्होंने कहा कि तार को इतना मत कसो कि वह टूट जाए और इतना ढीला भी मत करो कि उससे कोई संगीत ही न निकले।

वास्तव में जीवन के अनुभव की परिपक्वता से पैदा हुआ यह विचार था। उनका मध्यम मार्ग अष्टांगिक मार्ग के नाम से भी जाना जाता है। वे हैं– सम्यक् दृष्टि, हिंसा-प्रतिहिंसा से रहित सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन –सत्य और प्रिय बोलना, सम्यक् कर्म– हिंसा, चोरी और व्यभिचार-रहित कर्म, सम्यक् स्मृति-शरीर की नश्वरता और आत्मा की अमरता का स्मरण और सम्यक् समाधि। ये आठ मार्ग निर्वाण-प्राप्ति के साधन हैं।

ये मार्ग मानव चरित्र के तीन गुणों– शील, चित्त और प्रज्ञा के अन्तर्गत हैं। इस मार्ग को अपनाकर व्यक्ति का चारित्रिक निर्माण बहुमुखी हो सकता है। बुद्ध ने मनुष्य को दोनों प्रकार की अति से बचने को कहा। एक ओर मनुष्य घोर सांसारिकता और विलासिता में डूबा रहता है और दूसरी ओर घर-बार छोड़कर एकान्त में घनघोर तपस्या करता है तथा शरीर को सुखा डालता है। जीवन की ये दोनों अतियाँ हैं। मनुष्य को 'मध्यम मार्ग' अपना कर संतुलित जीवन-यापन करना चाहिए। जीवन का निर्वाण 'मध्यम मार्ग' से ही सम्भव है। अतः कल्याणकारी और श्रेयस्कर है।

भगवान् बुद्ध ने वैरमूलक जय और दुःखमूलक पराजय दोनों को भुलाकर उपशान्त भाव से सुख का आसेवन करने को ही जीवन का उचित मार्ग बताया। वे शील को प्रज्ञा तक पहुँचने का सीधा सरल मार्ग मानते हैं। शील का अर्थ है– मधुर वाणी, नम्रता और संयम। बुद्ध के अनुसार जो व्यक्ति क्रोध-रहित, सत्याभिलाषी, सत्य कर्म करने वाला और इन्द्रियों का पूर्ण निग्रह करने में समर्थ है, वही मनुष्य ब्रह्म है। 'ज्ञान बोधि' की अवस्था में मनुष्य निर्भय, शोक-रहित और पूर्ण शान्त होकर परमब्रह्म हो जाता है।

बुद्ध अनात्मवादी होते हुए भी कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मानते थे। तृष्णा के तृप्त होने पर भी अतृप्ति का अनुभव करने से ही अहंकार उत्पन्न होता है और अहंकार के कारण ही पुनर्जन्म का चक्र चलता है। अतः निर्वाण के लिए तृष्णा का परित्याग आवश्यक है। इसीलिए धम्मपद (बौद्ध धर्म के श्रुत) तण्हावग्गो के चौदहवें निकष के बारहवें श्लोक में कहा गया है– "लोहे, लकड़ी, रस्सी के बन्धन से बुद्धिमान् लोग नहीं बँधते; इनसे कड़ा बन्धन तो है– सोने, चाँदी, मणि, कुण्डल, पुत्र एवं स्त्री का।" तृष्णा की दाहकता को परहित की भावना ही बुझा सकती है।

बुद्ध के जीवन में दो पक्ष साफ हैं। एक पक्ष अपनी आत्मा को दीपक बनाकर अपने अन्दर ज्ञान का विकास करना है। उनके इस चिन्तन पर उपनिषद् के महावाक्य– 'तत्त्वमसि' की छाप है। दूसरा पक्ष आत्मप्रकाश से लोकप्रकाश का है। बुद्ध का पहला पक्ष व्यक्ति के उत्थान से जुड़ा है और दूसरा पक्ष समाज के उत्थान से सम्बद्ध है। व्यक्ति के 'स्व' का विकास लोक-कल्याण की उदात्त भावना से होना ही बुद्ध के अनुसार '**बहुजनहिताय बहुजनसुखाय**' की ओर प्रवृत्त होना है। उन्होंने 'धम्मपद' में कहा है– "शत्रु को शत्रुता से नहीं, बल्कि मित्रता से जीता जा सकता है।"

बुद्ध ने अपने अन्तिम उपदेश में कहा था– "हे भिक्षुओ! हरेक वस्तु नाशवान् है, अप्रमाद के साथ जीवन-सम्पादन करो, यह तुम्हारे तथागत का अन्तिम वाक्य है।"

गौतम बुद्ध ने तृष्णा का निदान, दान से माना है तो निर्वाण की नींव अप्रमाद अर्थात् आलस्यरहित होने और सतत जागरूक रहने को निरूपित किया है।

बुद्ध ने भारतीय जीवन में हिंसा, कर्मकाण्ड, यज्ञादि की बहुलता के विरुद्ध सरल जीवन और करुणा का सन्देश दिया। बुद्ध पहले भारतीय विचारक थे, जिन्होंने व्यक्ति की बुद्धि को सर्वोपरि महत्त्व दिया और अपने शिष्यों से बार-बार कहा कि उनकी बातें बुद्धि के धरातल पर उचित लगें, तभी उनपर अमल किया जाए। '**बुद्धं शरणं गच्छामि**' का भावार्थ यही है।

बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार में महात्मा बुद्ध के चुम्बकीय व्यक्तित्व का बड़ा योगदान है। उनका चरित्र सरल, प्रभावपूर्ण और तेजस्वी था। वे लगातार पैंतालीस वर्षों तक भ्रमण करते रहे और सामान्य जन की भाषा में सामान्य जन तक पहुँचते रहे। जहाँ– उनके चरण पड़े, वही स्थान तीर्थ हो गया। उनकी वाणी हिंसा और वैमनस्य से भरे इस विश्व के लिए आज भी प्रासंगिक है। तभी तो आधुनिक युग में अहिंसा के महान् पुजारी महात्मा गांधी ने कहा था– "बुद्ध के उपदेश केवल मनुष्य के भाईचारे के लिए ही जरूरी नहीं हैं, बल्कि पूरे जीवन-जगत् के भाईचारे के लिए जरूरी हैं।"

आज विश्व आणविक युद्ध के कगार पर खड़ा है। विनाश हमारे द्वार पर दस्तक दे रहा है। ऐसे में बुद्ध की करुणा और शान्ति के उपदेश का हमारे लिए विशेष महत्त्व है।

'विश्वशान्ति स्तूप' वैशाली का शुभारम्भ करते हुए भारत के विद्वान् पूर्व राष्ट्रपति डा० शंकर दयाल शर्मा के उद्गार बड़े ही सामयिक लगते हैं– "हमारी वर्तमान शताब्दी ने प्रथम विश्वयुद्ध और द्वितीय विश्वयुद्ध की विभीषिका को देखा है। जापान ने तो इसे बुरी तरह झेला भी है। हिरोशिमा-नागासाकी पर गिराए गए बमों की दहशत आज भी लोगों के मन में है। ऐसे समय में गौतम बुद्ध पूरे विश्व के लिए प्रासंगिक हो जाते हैं। वे विश्व के लिए प्रकाश स्तम्भ बन जाते हैं।"

बुद्ध द्वारा प्रतिपादित पंचशील आज भी मानव-निर्माण का मूल आधार है। बुद्ध का पंचशील है– हिंसा न करना, दूसरे की सम्पत्ति का आदर करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, झूठ-व्यभिचार न करना और नशा का सेवन न करना।

पंचशील के ही सार को ग्रहण करते हुए स्वतन्त्र भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू ने अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर मैत्री, सद्भावना और विश्वबन्धुत्व की बात कही थी। बुद्ध का जीवन और उनके उपदेश संसार के लिए आज भी कल्याणकारी हैं।

सर्वपल्ली डा० राधाकृष्णन् भी भगवान् बुद्ध के उपदेश 'मैत्री एवं करुणा' में ही हिंसात्मक वृत्ति-प्रवृत्ति से 'त्रस्त-ग्रस्त' विश्व को जीवित रहने की 'आशाकिरण' देखते थे, यह उनके उद्गारों में हमेशा स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। उन्होंने कहा था–

"हमारे इस दुःखमय संसार में बुद्ध के सन्देश हमें आशा का एक स्वर देते हैं। वे कहानियाँ सुनाते हुए मित्रता और करुणा के दिव्य सन्देश का उपदेश देते हैं। पशु से मानव तक पुनः मानव से दैविक पद तक अशान्ति से शान्ति की ओर तथा अन्धकार से प्रकाश की ओर अभ्युन्नति धर्म का लक्ष्य है, यही बुद्ध की शिक्षा है।....."

गौतमबुद्ध जनप्रिय समाज-सुधारक, विलक्षण 'लोक-शिक्षक' 'जाति-विध्वंसक', 'विशेषाधिकार-विनाशक', 'सर्वजीव-समत्व-शिक्षक' एवं समतामूलक समाज के सच्चे साधक थे। उन्होंने अपने धर्म का सीधी सरल लोकभाषा यानी 'पालि' में प्रचार किया। उनकी सीधी सच्ची बातों के कारण बौद्ध धर्म जन-मानस में लोकप्रियता का शिखर छूने लगा, क्योंकि यह सबके लिए खुला था, अतः वे

सब जातियाँ, जिन्हें हेय समझा जाता था, वे तो इसकी ओर आकर्षित हुईं ही, उच्च और कुलीन कहे जानेवाले वर्ण भी इसके अनुयायी हुए। जो धर्म जातिवाद की ज्वाला बुझाता है, साम्प्रदायिकता की सड़ाँध साफ करता है, विषमता का विष नष्ट करता है, द्वेष, घृणा, कलह, आपसी भेदभाव, ऊँच-नीच, धर्म, रंग-भेद के रोग का निवारण करता है, सर्वजनसुखाय सर्वजनहिताय की बात करता है, लोक-मंगल का ललित सन्देश देता है; वह निस्सन्देह सही अर्थों में धर्म होता है। इसलिए वह अनुकरणीय तथा धारणीय भी होता है।

इन्हीं कारणों से बौद्ध धर्म लोकप्रिय हुआ और भारत के बाहर भी फैलता गया। इसका एक मात्र कारण गौतम बुद्ध की शिक्षाओं की सरलता और सुग्राह्यता थी। सामाजिक वैषम्य और कुरीतियों को समूल समाप्त करने के लिए जिस प्रकार से भगवान् बुद्ध ने धर्मप्रचार किया तथा उनके सद्धर्म ने जितना भारतीय संस्कृति को प्रभावित किया, उतना संसार में किसी अन्य महापुरुष ने या किसी धर्म ने प्रभावित नहीं किया।

उनकी अमृतवाणी ने सम्पूर्ण विश्व में शान्ति, सुख, सदाचार, सौहार्द एवं समानता का वातावरण प्रदान करते हुए सामाजिक सन्तुलन को स्थापित किया, जिसके फलस्वरूप उनके धर्म को विश्वधर्म का रूप प्रदान हुआ। उनके धर्म एवं उत्कृष्ट आध्यात्मिक चिन्तन का वह आदर्श था कि महाकवि अश्वघोष के शब्दों में– जिसमें न जरा है, न भय, न रोग, न जन्म, न मृत्यु और न आधि (चिन्ताएँ) है तथा जिसमें बार-बार क्रिया न हो– मुक्ति का महामन्त्र से अभिमन्त्रित है; यथा–

यदेतु यस्मिन्न जरा न भीर्न रुङ्-
न जन्म नैवोपरमो न चाधयः।
तमेव मन्ये पुरुषार्थमुत्तमं
न विद्यते यत्र पुनः पुनः क्रिया।।

हमारे देश में अनेक चिन्तक, साधक तथा महापुरुष हुए। इन सभी के चिन्तन के मूल में– हमेशा एक ही बात रही– '**एकैव मानुषी जातिः।**' समाज में जब-जब विकार आने लगता, समाज धर्म के मूल से हटकर भटकने लगता– ऐसे समय में किसी चिन्तक या सन्त या महापुरुष का उदय होता और नए पन्थ की स्थापना हो जाती।

भगवान् बुद्ध का उदय भी– "**यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।**" की भावना के साथ अधर्म की वृद्धि के फलस्वरूप धर्म की स्थापना करने के लिए हुआ। ऐसे विलक्षण महामानव का 'जन्म और कर्म' दिव्य होता है– "**जन्म कर्म च मे दिव्यम्...**।" वे केवल धर्म की स्थापना करने और संसार का उद्धार करने के लिए सगुणरूप से प्रकट होते हैं।

आचार्य किशोर कुणाल ने अपनी पुस्तक '**बुद्धावताराय नमो नमस्ते**' में पौराणिक शास्त्रों के तथ्यों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि भगवान् बुद्ध विष्णु के नवम अवतार थे। वे पुस्तक के पुरोवाक् में लिखते हैं– "बीसवीं शताब्दी के महानतम वैज्ञानिक एल्वर्ट आइन्सटाइन ने लिखा है कि यदि मुझसे संसार के तीन महानतम व्यक्तियों के नाम पूछे जाएँ तो मैं बुद्ध, मार्क्स, और गाँधी का नाम लूँगा। विश्ववन्द्य बुद्ध विश्व की विलक्षण विशिष्ट विभूतियों में अन्यतम रहे हैं। उनके व्यक्तित्व के अनेक आयाम हैं, जिनमें एक यह भी है कि भारतवर्ष की बहुसंख्यक जनता उन्हें बारह सौ वर्ष से अधिक काल से विष्णु के नवम अवतार के रूप में पूजती आई है और इस चिरकालीन परम्परा का शास्त्रीय प्रमाण सदियों से विद्यमान है; .... भगवान् बुद्ध के विचारों का इतना व्यापक प्रभाव पड़ा है कि राधाकृष्णन् प्रभृति विद्वान् उन्हें एक तरह से आधुनिक हिन्दूधर्म के निर्माता के रूप में चित्रित करते हैं। इस कथन

से किसी की मत भिन्नता हो सकती है; किन्तु विश्ववन्द्य बुद्ध के बहुआयामी, विशाल व्यक्तित्व के बारे में किसी को सन्देह नहीं हो सकता। क्षेमेन्द्र के शब्दों में कहें तो वे कल्पवृक्ष थे, जो सभी आशाओं के परिपूरक थे "**सर्वाशा-परिपूरको विजयते श्रीबुद्धकल्पद्रुमः**।"

सचमुच भगवान् बुद्ध एक विलक्षण 'लोक-शिक्षक' भी थे। तभी तो स्वामी विवेकानन्द ने उन्हें– "कर्मयोगियों में श्रेष्ठ स्वयं कृष्ण ही मानो शिष्यरूप से अपने उपदेशों को कार्यरूप में परिणत करने के लिए उत्पन्न हुए.... गीता के उपदेशक दूसरे रूप में पुनः मर्त्यलोक में पधारे...." कहा।

साधक-अवस्था से ही स्वामी विवेकानन्द भगवान् बुद्ध के लोकोत्तर व्यक्तित्व के प्रति आकर्षण अनुभव करते थे। इसी आकर्षण से प्रेरित हो श्री रामकृष्णदेव के विद्यमान रहते ही वे अल्प समय के लिए बोधगया को जा आए थे तथा वहाँ पर उन्हें गम्भीर ध्यानावस्था में भगवान् बुद्ध के दिव्य अस्तित्व का जीता-जागता अनुभव हुआ था।

स्वामीजी बौद्ध ग्रन्थों का अत्यन्त श्रद्धापूर्वक अध्ययन-अनुशीलन करते थे। उन्होंने बुद्धदेव के दिव्य जीवन, उपदेश, धर्म आदि के विषयों पर अत्यन्त मूल्यवान् विचार प्रकट किए हैं, जिन्हें यहाँ उद्धृत करना प्रासंगिक होगा; यथा– "भगवान् बुद्ध मेरे इष्टदेव हैं; मेरे ईश्वर हैं। उनका कोई ईश्वरवाद नहीं, वे स्वयं ईश्वर थे। इसपर मेरा पूर्ण विश्वास है।

....बौद्धशास्त्र ने 'बुद्ध' शब्द की परिभाषा दी है– 'अनन्त आकाश के समान अनन्त ज्ञान।

बुद्ध की स्थिति एक सिद्धि है वह एक व्यक्ति नहीं है।"

....सचमुच समस्त संसार में वे ही एक ऐसे मनुष्य थे, जो सदैव नितान्त प्रकृतिस्थ रहे, जितने मनुष्यों ने जन्म लिया है, उनमें अकेले एक प्रबुद्ध मानव।

.... नैतिकता का इतना बड़ा निर्भीक प्रचारक संसार में और कोई उत्पन्न नहीं हुआ, कर्मयोगियों में श्रेष्ठ स्वयं कृष्ण ही मानो शिष्यरूप से अपने उपदेशों को कार्यरूप में परिणत करने के लिए उत्पन्न हुए। पुनः वही वाणी सुनाई दी, जिसने गीता में शिक्षा दी थी, '**स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।**' 'इस धर्म का थोड़ा-सा अनुष्ठान करने पर भी महाभय से रक्षा होती है' (गीता : २.४०)। '**स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्**', 'स्त्री, वैश्य और शूद्र तक परम गति को प्राप्त होते हैं' (गीता : ९.३२)।

गीता के उपदेशों के जीते-जागते उदाहरण स्वरूप, गीता के उपदेशक दूसरे रूप में पुनः इस मर्त्यलोक में पधारे, जिससे जनता द्वारा उसका एक कण भी कार्यरूप में परिणत हो सके।

.... बुद्ध एक महान् वेदान्ती थे और शंकाराचार्य को भी कोई-कोई प्रच्छन्न बौद्ध कहते हैं। बुद्ध ने विश्लेषण किया है; शंकराचार्य ने उन सबका संश्लेषण किया है। इस प्रकार का निर्भीक सत्यानुसन्धान, प्राणिमात्र के प्रति, इस प्रकार का प्रेम संसार में किसी में कभी भी नहीं देखा। ....

....उन्होंने '**बहुजनहिताय बहुजनसुखाय** जन्मग्रहण किया था....।' .... वैराग्य ही तो उपनिषद् का प्राण है। विचार-जनित प्रज्ञा प्राप्त करना उपनिषद् का चरम लक्ष्य है.... भगवान् बुद्ध के समय भारत में इस त्यागव्रत का विशेष प्रचार हुआ और वैराग्य तथा संसार-वितृष्णा ही धर्म का चरम लक्ष्य था, बौद्ध धर्म के इस त्याग को हिन्दूधर्म ने अपने में लय कर लिया।

....उनके समान त्यागी महापुरुष पृथ्वी पर और कोई नहीं जन्मा।

शाक्यमुनि स्वयं संन्यासी थे उन्होंने वेदों के छिपे हुए सत्यों को निकालकर समस्त संसार में विकीर्ण कर दिया।

....धर्मप्रचार की प्रथा चलाई दूसरे धर्म से अपने धर्म में दीक्षित करने का विचार उन्हीं के मन में उदित हुआ।

....वे कहते थे– 'मैं दरिद्र और साधारण जनों के लिए आया हूँ, अतः जनभाषा में ही बोलने दो'।

उनके उपदेश भारत की तत्कालीन भाषा में पाए जाते हैं।

....बौद्धधर्म में निष्काम कर्म का भाव अत्यन्त विकसित है।

....ईसा और बुद्ध ईश्वर थे दूसरे सब पैगम्बर थे।

....ईश्वर के अस्तित्व के बारे में सदैव यही उत्तर दिया– "मैं नहीं जानता"।

.... "शुभ चरित्र बनो, शुभ कर्म करो।"

...."स्वयं अपनी मुक्ति प्राप्त करो।" .... "बुद्ध शब्द का अर्थ आकाश के समान अनन्त ज्ञान सम्पन्न" ...."मुझे प्राप्त हो गया है।"

.... "केवल निष्काम कर्म ही पूर्णत्व तक पहुँचा सकता है।"

....बुद्ध की प्रत्येक शिक्षा का आधार वेदान्त है।

.... वेदान्त का बौद्धमत से कोई झगड़ा नहीं था। वेदान्त का उद्देश्य ही है– सभी का समन्वय करना।

....बौद्ध धर्म भारत से विलुप्त हो गया है, किन्तु वस्तुतः नहीं। बौद्धमत के नकारात्मक तत्त्व– "ईश्वर नहीं है और न आत्मा"– नष्ट हो गए।

.... "केवल निर्माणात्मक तत्त्व ही जीते रहते हैं।"

.... परन्तु बौद्ध धर्म ने हमारे लिए दया, करुणा, प्रेम का ऐसा रासायनिक तत्त्व का प्रयोगपक्ष रखा है– वह बेमिशाल है।

....यह मानव जाति पर महान् आध्यात्मिक प्रभाव डालने की शक्ति से सम्पन्न है। मानव मात्र के प्रति प्रेम– उत्कट 'प्रेम-करुणा-दया' की लहर ने ही भारत से निकलकर अन्य देशों को आप्लावित कर दिया।

....मानव की समता उनके महान् सन्देशों में एक है। बुद्ध समता के महान् उपदेष्टा थे।

....उनका धर्म सिद्धान्त यह था– हमारे जीवन में दुःख क्यों है? स्वार्थ और कामना ही दुःख के कारण हैं। 'स्व' का परित्याग करने से ही छुटकारा पाया जा सकता है।

....'शरीर मन-चेतना' हर क्षण परिवर्तित होता रहता है।

....अतः 'स्व' एक भ्रम है सारी स्वार्थपरता इस 'स्व' को (भ्रान्तिजन्य 'स्व' को) पकड़े रहने से उत्पन्न होती है। यदि इस सत्य को जान लें कि 'स्व' नहीं है तो हम सुखी होंगे और दूसरों को भी सुखी बनाएँगे। यही था वह, जिसका उपदेश बुद्ध ने दिया।

....'**सर्वदुःखमनित्यमध्रुवम्**' अर्थात् संसार में चारों ओर दुःख-ही-दुःख है।

.... इससे मुक्ति के लिए 'तृष्णात्याग' और 'स्वार्थ-रहित जीवन-यापन करना होगा–' और '**बहुजनहिताय बहुजनसुखाय**' के लिए। ....(विवेकानन्द साहित्य संचयन से उद्धृत। भगवान बुद्ध तथा उनका सन्देश : प्रकाशक रामकृष्णमठ, नागपुर में संकलित।)

...."जब तक लोक में मृत्यु का भय, मानव-हृदय में दुर्बलता और उसका दुर्बलता-जनित भय एवं क्रन्दन रहेगा, ईश्वर में विश्वास भी कायम रहेगा ....तथागत के बाद उनके शिष्य भी वेदों की सनातन चट्टानों पर क्रूर प्रहार के बाद भी तोड़ न सके और जनता के बीच सनातन परमेश्वर को उठा लिया, जिसमें हर नर-नारी इतने अनुराग से आश्रय लेता है। फल यह हुआ कि बौद्ध धर्म को भारतवर्ष में स्वाभाविक मृत्यु प्राप्त करनी पड़ी और इस धर्म

की जन्मभूमि भारत में ही जड़ें हिल गईं और लुप्तप्राय हो गईं ....किन्तु उनका प्राणिमात्र के प्रति सहानुभूति और करुणा का अद्‌भुत रसायन– जो सभी महान् धर्मों का प्राणतत्त्व है– भारत-सहित विश्व में आध्यात्मिक उन्नति के मूल मन्त्र के रूप में आप्लावित है।

....हिन्दूधर्म बौद्ध धर्म के बिना नहीं रह सकता और न बौद्ध धर्म हिन्दूधर्म के बिना। हमारे पारस्परिक पार्थक्य ने स्पष्ट रूप में प्रकट कर दिया है कि बौद्ध, ब्राह्मणों के दर्शन और मस्तिष्क के बिना नहीं ठहर सकते और न ब्राह्मण बौद्धों के विशाल हृदय के बिना। बौद्ध और ब्राह्मण के बीच यह पार्थक्य भारतवर्ष के पतन का कारण है। अतः आइए, हम ब्राह्मणों की इस अपूर्व मेधा के साथ तथागत के हृदय, महानुभावता और अद्‌भुत लोक-हितकारी शक्ति को मिला दें।

.... 'प्रत्येक धर्म में ईश्वर है', वह जो हिन्दुओं का ब्रह्म, पारसियों का अहुरमज़्द, बौद्धों का बुद्ध, यहूदियों का जिहोबा और ईसाइयों का स्वर्गस्थ पिता है, आपको अपने उदार उद्देश्य को कार्यान्वित करने की शक्ति प्रदान करे! और समन्वय की ध्वजा फहराने की भी ....तभी क्षितिज में अधिक ज्योति के साथ नया सवेरा होगा ...."

(२६, सितम्बर १८९३ के व्याख्यान विश्व-धर्ममहासभा शिकागो से उद्‌धृत)।

अलवर्ट आईंसटीन ने कहा था– "The religion of the future will be a cosmic religion. It should transcend a personal God & avoid dogmas and theology, covering both the natural & the spiritual, it should be based on a religions sense arising forme. The experience of all things- natural & spiritual, as a meaningful unity. Budhism answers this discription."

प्रथम विश्वयुद्ध की विभीषिका से मर्माहत विश्वकवि रवीन्द्रनाथ का मन उद्विग्न हो उठा था। उनके कवि-कोमल चित्त ने महामानवतावादी, सत्य अहिंसा के जाज्वल्य आविष्कारक, युग-युग में सदा अम्लान वरेण्य पुरुष तथागत बुद्ध को पुनः भारत पर अवतरण का आह्वान किया था। नैवेद्य स्वरूप उनके कण्ठ से गूँजा था–

"हिंसाय उन्मत्त पृथ्वि, नित्य निठुर द्वन्द्व,
घोर कुटिल पन्थ तार, लोभ जटिल बन्ध।
नूतन तव जन्मलागि कातर यत प्राणी,
कर त्राण महाप्राण, आन अमृतवाणी।
विकसित कर प्रेम पद्य चिर मधुनिष्पन्द,
शान्त हे, मुक्त हे, हे अनन्त पुण्य,
करुणाधन धरणीतल कलंकशून्य।
एस दानवीर, दाओ त्यागकठिन दीक्षा,
महाभिक्षु लओसवार अहंकार भिक्षा।
लोक लोकभुलुक शोक, खण्डन कर मोह,
उज्ज्वल होक ज्ञान-सूर्य-उदय समारोह।
प्राणनमुक सकल भुवन, नयन लभुक अन्ध।
शान्त हे, मुक्त हे, हे अनन्त शून्य।
करुणाधन धरणीतल कर कलंकशून्य।
क्रन्दनमय निखिल हृदय ताप दहन दीप्त,
विषय विष विकार जीर्ण खिन्न अतृप्त।
देश देश परिल तिलक रक्त कलुष ग्लानि,
तव मंगल शंख आन तव दक्षिण पाणि।
तव शुभ संगीत राग, तव सुन्दर छन्द,
शान्त हे, मुक्त हे, हे अनन्त पुण्य।
करुणाधन धरणीतल कर कलंकशून्य।

"हिंसा में पृथ्वी उन्मत्त है। नित्य निष्ठुर द्वन्द्व चल रहा है। उसका पन्थ घोर कुटिल है। लोभ जकड़ा हुआ है। तुम्हारे नए जन्म की ओर समस्त प्राणी कातर हैं। त्राण करो महाप्राण, अमृत वाणी लाओ। चिरन्तन मधुनिष्पन्द प्रेम-पद्य विकसित करो। हे शान्त, हे मुक्त, हे अनन्त पुण्य, हे करुणाधन, धरणीतल को कलंकशून्य करो। हे दानवीर, आओ। त्याग की कठिन दीक्षा दो। हे महाभिक्षु, सबसे अहंकार की भिक्षा लो। लोग लोकशोक भूल जाए, मोह खण्डन करो। ज्ञानसूर्य-उदय समारोह-उज्ज्वल

हो। सारा भुवन प्राणवन्त हो। अन्धा नयन प्राप्त करे। हे शान्त, हे मुक्त, हे आनन्द, हे पुण्य, हे करुणाधन, धरणीतल कलंकशून्य करो। विषय विष के विकार से जीर्ण, खिन्न एवं अतृप्त? रक्तकलुषग्लानि का देश-देश में तिलक हो उठा है। अपने दाहिने हाथ में अपना मंगल शंख धारण करो। अपना शुभ संगीत राग, अपना सुन्दर छन्द लाओ। हे शान्त, हे मुक्त, हे अनन्त, हे पुण्य, हे करुणाधन, हे धरणीतल कलंकशून्य करो।”

आज विश्व में अशान्ति भय का वातावरण है। हिंसात्मक वृत्ति-प्रवृत्ति मानवता रक्तरंजित है, ऐसे समय में पुनः विकसित है तथा बुद्धावतारण की जरूरत है।

नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स।
सुखो बुद्धानं उप्पादो, सुखा सद्धम्मदेसना।।

(बुद्धों का उत्पन्न होना सुखकर है, सद्धर्म का उपदेश सुखकर है।)

बी० ६२, पी० सी० कॉलोनी,
लोहियानगर, पटना-२०

बोधकथा

प्राचीन काल में जब वाराणसी में ब्रह्मदत्त राज्य कर रहे थे, उस समय बोधिसत्त्व कृषक-कुल में उत्पन्न हुए और बड़े होकर खेती के द्वारा जीविका चलाने लगे | उसी समय एक बनिया गदहे पर बोझा लादकर व्यापार करता फिरता था | वह आने-जाने के स्थान में गदहे की पीठ से बोझा उतार कर गदहे को सिंहचर्म ओढ़ाकर धान, जौ के खेतों में छोड़ देता था | खेत के रखवाले उसे सिंह समझकर उसके पास नहीं जाते थे |

एक दिन वह बनिया किसी गाँव में डेरा करके अपना भोजन बनाने लगा और गदहे को सिंह का चर्म ओढ़ाकर जौ के खेत में छोड़ दिया | खेत के रखवाले उसे सिंह जानकर उसके पास न जा सके | घर जाकर उसकी सूचना दी | सब गाँव के रहनेवाले, आयुधों को लेकर, शंख और भेरी बजाते हुए, खेत के पास जाकर कोलाहल मचाने लगे | गदहा मृत्यु के भय से घबड़ाकर गर्दभ-स्वर से चिल्लाने लगा |

‘यह गदहा है’ यह जानकर बोधिसत्त्व ने पहली गाथा कही– ‘यह सिंह या व्याघ्र या चीते का गर्जन नहीं है | सिंह के चमड़े से ढँका हुआ यह नीच गर्दभ बोल रहा है |’

गाँववालों ने उसका गदहा होना जानकर मारते-मारते उसकी हड्डियों को तोड़ डाला और सिंहचर्म लेकर चले गए | उस बनिये ने तब आकर मरते हुए गदहे को देखा और दूसरी गाथा कही– ‘हरे-हरे जौ को बहुत दिनों तक सिंहचर्म ओढ़े हुए यह गदहा खाया करता था; बोल देने से मारा गया |’

उसके ऐसा कहते ही गदहे के प्राण निकल गए | बनिया भी उसे छोड़कर चला गया |

–सिंहचर्म जातक

(पालि जातक-कथा से)

परमाक्षर 'एवं'

जयकान्त मिश्र

ब्राह्मी-परिवार की वर्णमालाओं के सभी अक्षर मन्त्रात्मक माने गए हैं। इनकी शक्तियाँ अमित और रहस्यमय हैं। अक्षर विश्व की कारणशक्ति माने गए हैं, क्योंकि विश्व को जन्म देने में ये मूल कारण होते हैं– **अक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्**। प्रत्येक अक्षर तीन गुणों– ध्वनि, पद और वर्ण (रूप) के साथ प्रकाश में आता है।

महाराजाधिराज भोजदेव ने अपने सरस्वती-कण्ठाभरण के मंगलाचरण में वाङ्मय की परिभाषा '**ध्वनि वर्णाः पदं वाक्यम्**' का उल्लेख कर की है। यदि इस परिभाषा के अनुसार वाक्य को अलग कर दें तो अक्षरों के शेष तीन गुण रह जाते हैं। इनमें कुछ सामान्य और कुछ असामान्य होते हैं। असामान्य अक्षरों की संज्ञा परमाक्षर की दी गई है।

वैदिक अवधारणा के अनुसार ऋचाओं के प्रत्येक अक्षर पर देवतागण उसी प्रकार निवास करते हैं, जैसे वे महाकाश में रहते हैं (ऋ० १.२२.२०)। अक्षर की इस महत्ता का पल्लवन आगमशास्त्र में हुआ है, जहाँ इन अक्षरों के सांकेतिक रूप से विभिन्न यन्त्रों/पटलों की उद्भावना हुई है तथा विभिन्न लिपियों के विकास की परम्परा प्रवृत्त हुई है। इस सन्दर्भ में 'एवंकार' पर विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत है। – सं०

परमाक्षरों में कई विशिष्ट गुण होते हैं और ये एकाधिक ध्वनि-मात्राओं को अपने में सँजोए रहते हैं। सामान्य और असामान्य, दोनों प्रकार के अक्षरों का आधार 'अ' है। यह 'अ' अनुत्तर लिपि कहा जाता है, क्योंकि यह प्रथम ध्वनि, मात्रा तथा वर्ण का होता है। 'अ' के पहले और कोई ध्वनि या वर्ण (रूप) नहीं होता।

ब्राह्मी में 'अ' सीधी खड़ी लकीर (।) के आकार में होता है। 'अ' मूलाधार चक्र में निविष्ट नादात्मक चक्र से निकलता है और शरीर का कोई अंग इसका स्पर्श नहीं करता। ब्राह्मी में 'क' देवनागरी अंकों के जोड़ के चिह्न-जैसा (+) होता है। तन्त्रयुग का आरम्भ होने पर 'क' का जो तिरहुती लिपि का रूप विकसित हुआ, वह इस प्रकार का रूप है– 'A'। ब्राह्मी 'क' के मूल रूप के बाईं ओर एक त्रिभुज बनता है और दाईं ओर पुच्छ रूप दिया जाता है। यह पुच्छ रूप कुण्डलिनी शक्ति है। बाईं ओर के नीचे की लकीर परब्रह्म, ऊपर की लकीर महाविष्णु और 'अ' वाली सीधी लकीर परशिव मानी जाती।

त्रिभुज के बीच का स्थान नील सरस्वती का होता है और त्रिभुजाकार के तीन कोणों पर इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियों की स्थितियाँ बताई गई हैं। 'क' की ध्वनि मूल प्रकृति होने के कारण यह क्रियाशक्ति-रूपी महाकाली है।

इसी प्रकार प्रत्येक अक्षर सामान्य या विशिष्ट गुण लेकर और कभी नष्ट नहीं होकर अस्तित्व में रहता है। '**न क्षरति चलतीत्यक्षरः**' इसीलिए कहा जाता है।

विशिष्ट अक्षरों में 'ॐ' सर्वोपरि है क्योंकि यह विश्व का कारण– शरीर है। इच्छा-ज्ञान-क्रिया तीनों महाशक्तियों का सन्निवेश इसके गर्भ में होता है।

इन्हीं परमाक्षरों में 'ए' और 'वं' अपने विविध गुणों के साथ देखे जाते हैं। 'ए' एकाक्षर नहीं, अ (आ)+ई= ए होता है। इसी प्रकार उ+अ+म्= वं होता है जो वस्तुतः ॐ (अ+उ+म्) का ही अधोगामी रूप है। 'ए वं' की ओर प्राक्तन भारतीय तन्त्र तथा बौद्ध तन्त्र में समान रूप से ध्यान दिया गया है। परिपृच्छ तन्त्र में इस सम्बन्ध में निम्नलिखित सूक्ति मिलती है–

एकारस्तु भवेन्माता वकारस्तु पिता स्मृतः।
बिन्दुस्तत्र भवेद्योगः स योगः परमाक्षरः।
एकारस्तु भवेत् प्रज्ञा वकारः सुरताधिपः।।
बिन्दुश्चानाहतं ज्ञानं तज्जन्यान्यक्षराणि च।।

उपर्युक्त उक्तियों के अनुसार 'ए' माता (या प्रज्ञाशक्ति) है, 'व' पिता या सुरताधिप-शिव और बिन्दु दोनों का योग करनेवाली अनाहत ज्ञान-रूपिणी महाशक्ति (परमाक्षर) है। यह 'एवं' सभी अक्षरों को जन्म देनेवाला है।

इस सम्बन्ध में कान्हपद दोहा भी उल्लेखनीय है।वह इस प्रकार है–

एवंकार दिढ़ बाखोड मोडिउ।
विविह विआपक बान्ध न तोड़िउ।।
कान्ह विलसअ आसब माता।
सहज नलिनी वन पइसि निविता।।

इस दोहे की व्याख्या इस प्रकार की गई है– एकार चन्द्राभास और वंकार सूर्य है और दोनों मिलकर दिन और रात्रि का ज्ञान कराते हैं। अभिप्राय यह कि 'ए' चन्द्र या रात्रि है तथा 'वं' सूर्य अथवा दिन है जो मिलकर काल का ज्ञान कराते हैं।

बौद्ध तन्त्रग्रन्थों में तथा प्राक्तन भारतीय तन्त्र में 'ए' और 'वं' के सम्बन्ध में गूढ़ार्थयुक्त कई विवरण मिलते हैं जो वस्तुतः एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी समान सिद्धान्त के प्रतिपादक हैं। अभिनव गुप्त के तन्त्रालोक की समीक्षा करते हुए हेबज्र ने निम्नलिखित दो पंक्तियाँ उद्धृत की हैं–

एकाराकृति यद्दिव्यं मध्ये षट्कारभूषितम्।
आलयः सर्वसौख्यानां बोधरत्नकरण्डकः।।

स्वर्गीय गोपीनाथ कविराज ने इसे बहुत शुद्ध नहीं मानते हुए इसमें जो संशोधन किया है उसमें षट्कार के बदले एवंकार और **बोधरत्नकरण्डकः** के बदले **बुद्धरत्नकरण्डक** अथवा **धर्मकरण्डक** को अधिक संगत बताया है। उन्होंने इस संशोधन के पक्ष में लिखा है कि हेबज्र ने अन्यत्र ऐसा ही उल्लेख किया है। उन्होंने संशोधित उपर्युक्त पंक्तियों की व्याख्या इस प्रकार की है– **बोधरत्नकरण्डकः** के स्थान पर **बुद्धरत्नकरण्डकः** या **धर्मकरण्डकः** परम ज्ञानके लिए प्रयुक्त हुआ है जो सभी प्रकार के आनन्द का स्रोत है। इस आनन्द के प्रतीक 'ए' (जिसके भीतर वंकार है) को 'बौद्ध तन्त्र ने एवंकार बताया है। हेबज्र ने स्वयं अन्यत्र लिखा है–

आनन्दास्तत्र जायन्ते क्षणभेदेन भेदिताः।
क्षणज्ञान सुखज्ञानं एवंकार-प्रतिष्ठितम्।।

यह एवंकार है जिसका विभिन्न क्षणों के आधार या विभिन्न प्रकार के आनन्द का उदय होता है।

हेबज्र के इस एवंकार का प्रतीकात्मक रूप इस प्रकार बनता है– अक्षर 'ए' अधोमुख त्रिभुज '▽' बनता है। यह शक्तितत्त्व है। शिवतत्त्व 'व' ऊर्ध्वमुख '△' त्रिभुज का रूप ग्रहण करता है और दोनों के केन्द्र में बिन्दु प्रकट होता है। वंकार एकार के भीतर प्रतिष्ठित होता है, अतः दोनों का सम्मिलित रूप ऐसा '✡' बनता है।

प्राचीन भारतीय तन्त्रग्रन्थों में (जैसा कि मैंने ऊपर बताया है) 'ए' और 'व' शक्ति त्रिकोण और शिव-त्रिकोण के नामों से जाने जाते हैं। 'बिन्दु' दोनों का योग कराता है। दोनों का यह योग षट्कोण बनाता है, जिसका रूप बनता है '   '। यह प्रतीक षट्कोण प्रख्यात है, जिसके केन्द्र में बिन्दु स्थित होता है।

'ए' के गर्भ में 'वं' शुद्ध आध्यात्मिक प्रकाश है, जो अनन्त आकाश में परिव्याप्त है और उसमें बुद्धों की (जो बुद्धत्व प्राप्त कर चुके हैं) समाविष्टि है, जो धर्म के सत्य को यथार्थतः जान चुके हैं। इसी को स्पष्ट करते हुए नरोपा ने मूल तत्त्व की व्याख्या में लिखा है–

आकाशे त्वजडे स्वच्छेऽ नवकाश प्रकाशिनि।
विश्वे वज्रालये लयने धर्मधातौ मनोरमे।।
तन्त्रस्य देशना पुंसां प्राप्यज्ञानप्रयोजनम्।
एकारो गगनालोको धर्मधातुः प्रकीर्तितः।
वंकारः सुगतव्यूह एकारे सम्यग् विष्टितः।।

इस सन्दर्भ में ये पंक्तियाँ भी मिलती हैं–

ए रहस्याख्यधातौ वा भगे धर्मोदयेऽम्बुजे।
सिंहासने स्थितो वज्री उक्तस्तन्त्रान्तरे मया।।
वं वज्री सत्त्वश्च वज्रभैरव ईश्वरः।
हेबज्रः काल चक्रस्य आदिबुद्धादिनामकः।।

'ए' भग (शक्ति त्रिकोण) धर्म धातु है, जो धर्म के सत्त्व को प्रकाश में लाता है। यह सिंहासन या मूल आधार है। 'वं' रूप आदि बुद्ध या वज्र सत्त्व है, जो आधेय रूप में इस सिंहासन पर आसीन है।

बौद्ध तन्त्र की ही भाँति प्राचीन भारतीय तन्त्रग्रन्थों में भी प्रकारान्तर से ऐसी ही बातें कही गई हैं–

त्रिकोणमेका दशमं वह्निगेहं च योनिकम्।
श्रृंगारं चैव एकारं नामभिः परिकीर्तितम्।।

निःसीम महाकाश में गुप्त मण्डल है, जो सामान्यतः योगिनीबल्क नाम से जाना जाता है। इसके तीन कोण तीन महाशक्तियाँ-इच्छा, ज्ञान और क्रिया हैं।

त्रिकोणं भगमित्युक्तं विपत्स्थं गुप्तमण्डलम्।
इच्छा-ज्ञान-क्रिया-कोणतन्मध्ये चिच्चिणीक्रमम्।।
अनुत्तरानन्दचिती इच्छाशक्तौ नियोजिते।
त्रिकोणमिति यत् प्राहुर्विसर्गानन्दसुन्दरम्।।

'एवं' सभी अक्षरों की जननी है। यह चिणि-क्रम के उल्लेख से स्पष्ट है। मूलाधार चक्र नादात्मिका शक्ति से सम्पन्न है। इच्छा-ज्ञान-क्रिया तथा वामा-ज्येष्ठा-रौद्री शक्तियों के सहयोग से वहाँ अनुत्तर लिपि का ही उदय होता है सो नहीं, चिणि-प्रथम ध्वनि है जो मूलाधार चक्र से निकलती है। यह चिणि सूक्ष्म रूप में प्रकट होकर महाघोष तक का रूप ग्रहण करने का कारण है। इसके गर्भ में सभी अक्षर (ध्वनि मूलक) बीज रूप में विराजमान रहते हैं। इसलिए यह स्पष्ट है कि 'एवं' सभी अक्षरों की ही नहीं, समग्र विश्व की जननी है।

हंसोपनिषद के अनुसार नाद का कारण कुल कुण्डलिनी है। ये नाद दस प्रकार के हैं– (१) चिणि, (२) चिणिचिणि, (३) घण्टानाद, (४) शंखनाद, (५) तन्त्रीनाद, (६) तालनाद, (७) वेणुनाद, (८) भेरीनाद, (६) मृदंगनाद और (१०) मेघनाद। निःसन्देह यह विषय अत्यन्त रहस्यमय है।

चानमारी रोड, कंकड़बाग,
पटना-२०

कवि तुलसी के भक्तिपरक विचार

✍ डा० कृष्णानन्द प्रसाद 'अभिलाषी'

गोस्वामी तुलसीदास एक भक्त महाकवि हैं। भक्ति के विषय में उनकी अपनी मान्यताएँ हैं, जिसे लोग उनकी भक्ति-भावना कहते हैं। भक्त, भक्ति और भगवान् के विषय में उनके विचार उनके महाकाव्य 'रामचरितमानस' और 'विनय-पत्रिका' में विशेष रूप से अभिव्यक्त हुए हैं। उनकी रचनाओं के आधार पर भक्तिपरक निम्नलिखित तथ्य उल्लेखनीय हैं–

(१) **भक्ति की परिभाषा :** सर्वप्रथम यह जानना है कि तुलसी की दृष्टि में भक्ति क्या है? इस सम्बन्ध में वे कहते हैं–

ब्रह्म पयोनिधि मन्दर, ग्यान सन्त सुर आहिं।
कथा सुधा मथि काढहिं भगति मधुरता जाहिं।।

(मानस : ७.१२०)

अर्थात् ब्रह्मरूपी समुद्र में ज्ञानरूपी पर्वत डालें और उसमें सन्त तथा देवतारूपी सर्प को लपेटकर मन्थन करने से जो अमृत प्राप्त होता है, वही भक्ति है।

तात्पर्य यह कि परम ज्ञानी साधु-सन्त तथा देवतागण अनुराग भरे शब्दों में ब्रह्म का जो गुणगान करते हैं और जिसे सुनकर श्रोताओं के हृदय में भगवान् के प्रति जो प्रेम, आदर और श्रद्धा के भाव उत्पन्न हैं, वही भक्ति है।

(२) **भक्ति किसकी होती है :** शत-प्रतिशत भक्ति शब्द का प्रयोग भगवान् के लिए ही होता है; अपवाद अलग है। आप पूछेंगे– भगवान् कैसा है? इसके उत्तर में जब वेदों ने ही नेति-नेति कहकर सन्तोष लिया तो हम क्या उत्तर दें? हाँ, तुलसी ने इतना अवश्य बताया कि भगवान् के दो रूप है– सगुण और निर्गुण– '**अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा**' (मानस : १.२३.१)। ये दो रूप उनके गुणमन्दिर हैं– '**अगुन सगुन गुन मन्दिर सुन्दर**' (६.११५.२)।

अगुण और सगुण में कोई भेद नहीं है। वेद-पुराण, सन्त पण्डितादि का प्रमाण देते हुए तुलसी ने लिखा है–

सगुनहिं अगुनहिं नहि कछु भेदा।
गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा।।

(मानस : १.११६.१)

जो निराकार ब्रह्म अनादि है, अनन्त है, अखण्ड है, अलख है, अज और अभेद है; वही भक्त की याचना पर साकार होकर अवतार लेता है। कवि की उक्ति है–

अगुन अरूप अलख अज जोई।
भगत प्रेम बस सगुन सो होई।।

(मानस : १.११६.२)

स्वयं रामावतार इसका प्रमाण है। प्रश्न है कि निर्गुण सगुण कैसे बनता है। तुलसी का उत्तर है कि जैसे जल जमकर बर्फ बनता है और ताप पड़ने पर बर्फ जल में परिणत हो जाती है, उसी तरह से ब्रह्म का रूप भी बदलता रहता है; तत्त्वतः दोनों एक ही हैं। तुलसी का स्पष्ट कथन है–

ग्यान कहै अग्यान बिनु तम बिनु कहै प्रमास।
निर्गुन जो कहै सगुन बिनु सो गुरु तुलसीदास।।

(दोहावली : २५१)

(३) **भक्ति का स्वरूप :** भक्ति स्वतन्त्र है, निरवलम्ब है, ज्ञान-विज्ञान सभी उसके अधीन हैं। लिखा है–

सो स्वतन्त्र अवलम्ब न आना।
तेहि आधीन ग्यान बिग्याना।।

(मानस : ३.१६.३)

दूसरी बात यह कि भक्ति माया की तरह स्त्रीवर्ग की है–

माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ।
नारी की जानइ सब कोऊ।।

(७.११६.३)

किन्तु विशेषता यह है कि जहाँ माया पुरुष-वर्गीय ज्ञानियों को सताती है, वहाँ स्वयं स्त्रीरूपा भक्ति को छूती तक नहीं; क्योंकि कामशास्त्र का सिद्धान्त है कि कोई नारी अपने नारीत्व से किसी अन्य नारी को अपनी ओर आकर्षित नहीं करती। इसी सिद्धान्त को तुलसी ने इन शब्दों में व्यक्त किया है। गरुड़ के प्रति काक भुशुण्डि की उक्ति है–

मोह न नारि नारि के रूपा।
पन्नगारि यह रीति अनुरूपा।।

(मानस : ७.११६.२)

नारीवर्गीय होने के कारण भक्ति का मार्ग सरल है– स्त्री का साथ होना आसान है। भक्त तुलसी ने श्रीराम के मुख से कहलाया है–

सुलभ सुखद मारग यह भाई।
भगति मोरि पुरान श्रुति गाई।।

(मानस : ७.४५.२)

किन्तु लौकिक और व्यावहारिक पक्ष से नारी को आत्मसात् करना बहुत कठिन है। सिद्ध भक्त होना बहुत टेढ़ी खीर है। मानस के उत्तरकाण्ड में (दो० ५४ चौपाई : १.८) पार्वती ने शिव से जिज्ञासा प्रकट की है कि हजारों मनुष्यों में कोई एक धर्मव्रतधारी होता है, हजारों व्रतधारियों में कोई एक विषय-विमुख विरागी होता है; हजारों विरागियों में कोई एक ज्ञानी होता है, हजारों ज्ञानियों में कोई एक जीवन्मुक्त होता है; पुनः हजारों जीवन्मुक्तों में कोई एक ब्रह्मलीन होता है। ऐसे ब्रह्मलीन ही श्रीराम के परम भक्त होते हैं– ऐसी दुर्लभ रामभक्ति को काक भुशुण्डि ने कैसे प्राप्त किया? कृपा करके मुझे बताएँ।

सारांश रूप में रामभक्त के लिए अपेक्षित गुण ये कहे गए हैं–

धर्मसील बिरक्त अरु ग्यानी।
जीवनमुक्त ब्रह्म पर प्रानी।।

(मानस : ७.५४.६)

(४) **भक्ति से लाभ :** जो तन, मन और वचन से प्रभु का निश्छल भक्त हो गया, उसे लाभ-ही-लाभ है। उसके जीवन में कोई कष्ट नहीं रह जाता। कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि तुलसी का कथन है–

सुखी मीन जे नीर अगाधा।
जिमि हरि सरन न एकउ बाधा।।

(मानस : ४.१७.१)

तथ्य यह है कि जब व्यक्ति शरणार्थी बन जाता है, तब उसका सुख-दुख, हानि-लाभ, हर्ष-विषाद सब प्रभु के जिम्मे हो जाते हैं।

भक्ति सारे क्लेशों की नष्ट कर देती है। अतः यदि मानव क्लेशमुक्त होना चाहता है तो प्रभु की भक्ति करे, क्योंकि यह निश्चित है–

बिनु हरि भजन न जाहिं कलेसा।

(मानस : ७.८९.५)

भगवान् आनन्द के मूल स्रोत हैं। जब उनकी भक्ति मिल जाती है, तब सुख का मूलाधार प्राप्त हो जाता है और भक्तिप्राप्ति का एक बड़ा साधन है– ईश्वर की कृपा से सन्तों के समागम की उपलब्धि। श्रीराम ने भाई लक्ष्मण से कहा है–

भगति तात अनुपम सुखमूला।
मिलइ जो सन्त होई अनुकूला।।

(मानस : ३.१६.४)

क्लेशों में त्रिताप प्रमुख हैं। जब रामराज्य में उनकी प्रजा त्रितापों से मुक्त रही– **दैहिक दैविक भौतिक तापा। रामराज काहू नहिं ब्यापा।।**

तब उनके शरणार्थी भक्त को ये क्यों और कैसे सताएँगे ? अतः प्रभु से विनम्र याचना है–

देहु भगति रघुपति अति पावनी।
त्रिविध ताप भव दाप नसावनी।।
(७.३५.१)

अविद्या सारे क्लेशों की जड़ है, किन्तु यह भक्त को सता नहीं पाती– "**हरि सेवकहिं न ब्याप अविद्या**" (७.७९.२)। कारण यह है कि भक्ति-भजन के क्रम में यह बिना प्रयास के ही स्वतः नष्ट हो जाती है–

भगति करत बिनु जतन प्रयासा।
संसृति मूल अविद्या नासा।।
(७.११६.६)

भक्ति चिन्ताओं को दूर करनेवाली चिन्तामणि है–

राम भगति चिन्तामनि सुन्दर।
(७.१२०.२)

यह दीर्घायु बनानेवाली संजीवनी बूटी है–

रघुपति भक्ति सजीवन मूरी।
(७.१२२.७)

कलियुग में कल्याण का एक मात्र सहज उपाय भक्ति ही है। इस युग में योग और यज्ञ सम्भव नहीं हैं। अतः रामभजन ही एक मात्र सहारा है–

कलिजुग जोग न जग्य न ग्याना।
एक अधार राम गुन गाना।।
(मानस : ७.१०३.१)

पुनश्च–

ऐहि कलिकाल न साधन दूजा।
जोग जग्य जप-तप ब्रत पूजा।।
(मानस : ७.१३०.५)

भक्त कवि तुलसी का दावा है कि अन्य तीन युगों (सत्य, त्रेता और द्वापर) में जो लाभ योग, यज्ञ और ज्ञान से नहीं मिला, वह फल कलियुग में हरिनाम के जप (भक्ति) से मिलेगा; यथा–

कृत-जुग त्रेता द्वापर पूजा मख अरु जोग।
जो गति होइ सो कलिजुग नाम ते पावहिं लोग।।
(७.१०३)

गुरु वसिष्ठ ने श्रीराम से कहा है कि प्रेम और भक्ति ऐसे पवित्र जल हैं कि इनसे मन का मैल सहज धुल जाता है। इनके अभाव में मन स्वच्छ नहीं हो पाता–

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई।
अभिअन्तर मल कबहुँ न जाई।।
(मानस : ७.४९.६)

एक शब्द में कहें कि भक्ति के अभाव में जीवन के सारे सद्गुण उसी तरह निस्सार और बेस्वाद हैं, जैसे लवण-रहित अच्छा-से-अच्छा व्यंजन स्वादहीन लगता है–

भगति हीन गुन सब सुख ऐसे।
लवन बिना बहु व्यंजन जैसे।।
(मानस : ७.६२.१)

भक्ति के बिना निर्वाण भी सम्भव नहीं है। निर्वाण का एक रूप है भगवान् में मिल जाना। भगवान् भक्ति से द्रवीभूत होते हैं। स्वयं श्रीराम ने लक्ष्मण से कहा है–

जातें बेगि द्रवउँ मैं भाई।
सो मम भगति भगत सुख दाई।।
(मानस : ३.१६.२)

जब भक्त के भजन से भगवान् द्रवीभूत हो भावविह्वल होते हैं, तब भक्त को आत्मसात् कर लेते हैं। यही है व्यष्टि का समष्टि में मिल जाना। बूँद का सागर में विलीन हो जाना। यही है मुक्ति, यही है निर्वाण। इसीलिए भक्तप्रवर तुलसीदास ने कहा है–

रामचन्द्र के भजन बिनु जो चह पद निर्बान।
ज्ञानवन्त अपि सो नर पसु बिन पूछ बिषान।।
(मानस : ७.७८)

(५) **भक्ति के साधन :** भक्तिप्राप्ति के अनेक साधन हैं, जिनमें प्रमुख है सन्त-समागम की प्राप्ति; यथा– श्रीराम का वचन लक्ष्मण के प्रति है–

भगति तात अनुपम सुखमूला।
मिलइ जो सन्त होईं अनुकूला।।

(३.१६.४)

सन्त-समागम का सबसे बड़ा साधन ईश्वर की कृपा है। ईश्वर की कृपा से सन्त मिलते हैं और सत्संग से श्रोता के मन में विवेक जागता है–

बिनु सतसंग बिबेक न होई।
राम कृपा बिनु सुलभ न सोई।।

(१.३.७)

सन्तों के दर्शन पुण्य-प्रताप से होते हैं–

पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न सन्ता।
सतसंगति संसृति कर भन्ता।।

(७.४५.६)

पुण्य प्राप्ति का साधन है– मानव-शरीर। मानव-शरीर की प्राप्ति जीव के लिए बड़ा कठिन है। इसके लिए देवता भी तरसते हैं–

बड़े भाग मानुस तन पावा।
सुर दुर्लभ सब ग्रन्थन्हि गावा।।

(७.४३.७)

वेदों का कथन है कि मानव-शरीर के बिना हरिभजन सम्भव नहीं है।

तनु बिनु बेद भजन नहिं बरना

लेकिन दुर्भाग्य है कि आज का मानव सर्वाधिक क्रूर है।

जब तक श्रीराम के चरणों में अनुराग नहीं होगा, तब तक लाख योग, जप और यज्ञ करें, भक्ति नहीं मिलने को है; यथा–

मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा।
किएँ जोग तप ग्यान बिरागा।।

(७.६२.१)

अनुराग का मूलाधार विश्वास होता है। इसीलिए लिखा है–

बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न रामु।
रामकृपा बिनु सपनेहुँ जीव न लह बिश्रामु।।

(मानस : ७.९०)

हृदय में भक्ति की जागृति एकाएक नहीं होती। उसके कई चरण होते हैं। सर्वप्रथम किसी का परिचय होता है, निरन्तर मिलन से विश्वास जगता है; विश्वास प्रीति को जन्म देता है; प्रीति की अधिकता श्रद्धा में परिणत होती है। यही श्रद्धा विकसित होकर भक्ति का रूप लेती है। इसी तथ्य को तुलसी ने इन शब्दों में व्यक्त किया है–

जानें बिनु न होइ परतीती।
बिनु परतीती होइ नहिं प्रीती।।
प्रीति बिना नहिं भगति दिढ़ाई।
जिमि खगपति जल कै चिकनाई।।

समन्वयवादी रामभक्त कवि तुलसी ने बताया है कि श्रीराम की भक्ति हेतु भगवान् शिव की कृपा भी अपेक्षित है। नारद के प्रति श्रीराम ने स्वयं कहा है–

जेहिं पर कृपा न करहिं पुरारी।
सो न पाव मुनि भगति हमारी।।

(मानस : ११३८.७)

सद्-गुरु का मिलने और उनकी कृपा से भक्ति प्राप्त होती है। वे शिष्य का संकट दूर करते हैं, जैसे काक भुशुण्डि के गुरु ने उन्हें शिवशाप से मुक्त कराया था।

अतः माता-पिता, गुरु, बन्धु-बान्धव इन सबकी सेवा प्रभुसेवा के समान है। मानो उन्हीं को अर्पित है। श्रीराम ने ही कहा है–

गुरु पितु मातु बन्धु पति देवा।
सब मोहि कहँ जाने दृढ़ सेवा।।

(मानस : ३.१६.१०)

भक्तिप्राप्ति हेतु मन से षड् विकारों को दूर करना होगा। जिसने उनपर विजय पाई, भगवान् उसी के वशीभूत हो गए।

काम आदि मद दम्भ न जाने।
तात निरन्तर बस मैं ताके।।

(मानस : ७.१६.१२)

क्योंकि–

जहाँ राम तहँ काम नहिं जहाँ काम नहि राम।
तुलसी कबहुँ न रहि सकै रवि रजनी एक ठाम।।

(मानस : ७.१०३)

सबसे बड़ी बात यह है कि भगवान् जिसे अपने को जताना चाहते हैं, वही उन्हें जान पाता है और वही हो जाता है–

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।
जानत तुम्हहि तुम्हइ हो जाई।।

(मानस : २.१२७.३)

अतः

मन क्रम बचन छाड़ि चतुराई।
भजत कृपा करिहँहि रघुराई।।

(मानस : १.२००.६)

(६) ज्ञान और भक्ति के मार्ग : निर्गुण ब्रह्म के आधारक ज्ञानी कहलाते हैं; जैसे– कबीर। सगुण ब्रह्म के उपासक भक्त होते हैं; जैसे– सन्त कवि तुलसीदास। जैसे तत्त्वतः सगुण और निर्गुण ब्रह्म में कोई भेद नहीं है, उसी तरह ज्ञानमार्ग और भक्ति-मार्ग में कोई अन्तर नहीं है। दोनों का लक्ष्य एक ही है– ईश्वर को प्राप्त करना, जन्म-मरण के बन्धन से मुक्ति पाना है। दोनों के मार्ग अलग-अलग हैं। जहाँ भक्तिमार्ग को सरल और सुलभ बताया गया है, वही ज्ञानमार्ग को कठिन कहा गया है। काक भुशुण्डि ने गरुड़ से कहा है–

ग्यान पन्थ कृपान की धारा।
परत खगेश होइ नहि बारा।।

(७.११६.१)

कारण यह है–

ग्यान अगम प्रत्यूह अनेका।
साधन कठिन न मन कहुँ टेका।।

(७.४५.३)

निराकार का ध्यान करना साकार के मानसिक दर्शन से कठिन है, ध्यान को एकाग्रचित्त करने के लिए किसी आकार की अपेक्षा होती है। इसीलिए भक्त तुलसी का कहना है–

नहिं कछु दुर्लभ ग्यान समाना।

इस मार्ग की कठिनाई के उल्लेख में आगे कहते हैं–

कहत कठिन समुझत कठिन साधन कठिन बिबेक।
होइ घुनाच्छर न्याय जौं पुनि प्रत्यूह अनेक।।

(७.११८)

भक्ति की तरह ज्ञानमार्ग भी मोक्षदायक है, धर्म से वैराग्य आता है और वैराग्य से ज्ञान। यही ज्ञान मोक्षदायक होता है।

धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना।
ग्यान मोच्छ प्रद बेद बखाना।।

(मानस : ३.१६.१)

ज्ञान और भक्ति में समन्वय बताते हुए तुलसी ने पुनः लिखा कि दोनों ही भवविपदा के नाशक हैं।

भगतिहि ज्ञानहि नहिं कछु भेदा।
उभय हरहिं भव सम्भव खेदा।।

(मानस : ७.११५.७)

पूरी जानकारी के बाद किसी के प्रति जो आदरभाव या स्नेह उत्पन्न होता है, वह टिकाऊ होता है। अपने परिचय की प्रीति चंचल होती है। इसीलिए श्रीराम को ज्ञानवान् भक्त अधिक प्रिय होता है। उनकी ओर से तुलसी ने लिखा है–

सोह न राम प्रेम बिनु ग्यानू।
करनधार बिनु जिमि जल जानू।।
पायेहु ज्ञान भगति नहीं तजहिं।

इसी कारण ज्ञानवन्त भक्त भगवान् को अधिक प्रिय होते हैं।

ग्यानी प्रभुहि विसेषि-पिआरा।

(१.२२.७)

ऐसे भक्त भगवान् को ज्येष्ठ पुत्र के समान प्रिय लगते हैं। स्वयं राम ने स्वीकारा है–

मोरे प्रौढ़ तनय सम ग्यानी।

(२.४३.६)

सारांश यह कि तुलसी की दृष्टि में ज्ञानी और भक्त दोनों ही भगवान् को एक-सा प्रिय हैं; क्योंकि दोनों ही उन्हें याद करते हैं, गुणगान करते हैं, दिन-रात जपते हैं। ज्ञानी सोच समझकर भगवत्प्रेम की राह पकड़ते हैं और अज्ञानी भक्त अन्धे की लाठी पकड़कर चला करते हैं। इस कारण कभी डगर पर डगमगा जाते हैं और कभी माया-मोह के फिसलन पर फिसल जाते हैं।

(७) **भक्त और भगवान् :** अनेक प्रकार की भक्ति होती है जिनमें सेवक-सेव्य भाव की भक्ति की अधिक मान्यता है। तुलसी की भक्ति इसी कोटि की है। जो जीव सदा भगवान् का भजन करता है, उनका गुणगान करता है, उनकी आज्ञा का पालन करता है और सेवा करने को सदा तत्पर रहता है, ऐसे जीव की रक्षा भगवान् सदा करते हैं। उसके सुख-दुख का ध्यान रखते हैं। ऐसा होना लौकिक जीवन में भी उचित है, स्वाभाविक है। जो नौकर मालिक की सदा सेवा में तत्पर रहता है, मालिक उसके पोषण और रक्षण का सदा ध्यान रखता है।

इस परिवेश में भक्त और भगवान् तथा सेवक और स्वामी के बीच कैसे सम्बन्ध होते हैं– कैसे व्यवहार बरते जाते हैं, कवि तुलसी ने इसका भी उल्लेख किया है। कुछ उदाहरण उपस्थित किए जा रहे हैं।

जो भक्त मन, वचन और कर्म से निष्कपट भाव से भगवान् की सेवा करता है, उन्हें स्मरण करता है, वह उनका सखा सम हो जाता है; यथा–

सखा परम परमारथ एहू।
मन क्रम बचन राम पद नेहू।।

(मानस : २.६३.६)

भगवान् भक्त की रुचि रखते हैं। शबरी ने उन्हें जूठा बेर खिलाना चाहा, खा लिया। मनु-शतरूपा ने उन्हें पुत्र रूप में भी प्राप्त करना चाहा, उन्होंने उनके लिए रामावतार ले लिया; यथा–

राम सदा सेवक रुचि राखा।

(२.२१९.२)

मित्र का शत्रु शत्रु होता है, यह लौकिक सत्य है। इसी तरह भक्त का वैरी भगवान् का वैरी माना जाता है–

सेवक बैर बैरु अधिकाई।

(२.२१९.२)

मित्र सुग्रीव का शत्रु बालि मारा गया और भक्त विभीषण का भाई लंकेश सपरिवार नष्ट हो गया। इसी तरह जो भक्त के प्रति अपराध करता है, वह अप्रत्यक्ष रूप से भगवान् का अपराध करता है और रामरोष की अग्नि में भस्म हो जाता है–

जो अपराध भगत कर करई।
राम रोष पावक सो जरई।।

(२.२१८.५)

भक्त के अवगुण को (किसी दोष को) भगवान् अनदेखी कर देते हैं– "**जन अवगुन प्रभु मान न काऊ।**" (७.१.६)

फिर भी 'विनयपत्रिका' में तुलसी ने बार-बार भगवान् राम से निवेदन किया है– "**प्रभु मेरो अवगुन चित न धरो।**"

भक्त भगवान् को प्राणसम प्रिय है, उसकी जातीय श्रेष्ठता या निम्नता से कोई मतलब नहीं है–

भगतिवंत अतिनीचउ प्रानी।
मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी।।

(मानस : ७.८६.९)

दास को भगवान् अधिक प्यार करते हैं। श्रीराम ने कहा है–

सब कें प्रिय सेवक यह नीती।
मोरें अधिक दास पर प्रीती।।

(मानस : ७.१६.८)

'स्वामी होना सहज है, दुर्लभ होना दास।'

भरत भगवान् के परम सेवक हैं। उनका कहना है कि सेवकधर्म सबसे कठिन धर्म है। यदि उनके स्वामी राम ने पैदल वनगमन किया तो भरत के लिए उचित है कि वे सर के बल वनपथ पर चलें–

सिर भरि जाउँ उचित अस मोरा।
सबतें सेवक धरमु कठोरा।।
(मानस : २.२०३.७)

यही कारण है कि '**जग जप राम राम जप जेही**' (२.२१८.८)। काक भुशुण्डि ने गरुड़ से कहा है– "**राम ते अधिक राम कर दासा**" (७.२२०.१६)।

राम के वनपथ पर जलद ने कोई छाया नहीं की, लेकिन जब भरत उसी पथ पर चले तब–

किएँ जाहिं छाया जलद सुखद बहइ बर बात।
तस मगु भयउ न राम कहँ जस भा भरतहि जात।।
(२.२१६)

स्वामी की सेवा जान हथेली पर रखकर करनी चाहिए। भरत का वचन है–

अग्या सम न सुसाहिब सेवा।
सो प्रसादु जन पावै देवा।।
(मानस : २.३०१.४)

सारांश रूप में भक्त तुलसी का अभिमत है कि बिना सेवक-सेव्य भाव के भवसागर नहीं पार किया जा सकता–

सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।
भजहु राम पद पंकज अस सिद्धान्त बिचारि।।
(मानस : ७.११९)

(८) नवधा भक्ति : भक्ति के नौ भेद बताए गए हैं, जिन्हें नवधा भक्ति कहा जाता है। श्रीमद्भागवत पुराण में इसका उल्लेख मिलता है। उसके अनुसार उसके नौ भेद इस प्रकार हैं–

१. नामसम्बन्धी : श्रवण, कीर्तन, स्मरण।
२. रूपसम्बन्धी : पादसेवन, अर्पण, वन्दन।
३. भावसम्बन्धी : दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन।

तुलसी ने भी नवधा भक्ति का वर्णन किया है, किन्तु अपने दृष्टिकोण से। मानस के अरण्यकाण्ड में श्रीराम ने शबरी को इस भक्ति का उपदेश दिया है। वहाँ इसका क्रम इस प्रकार है–

(१) कथाश्रवण, (२) प्रभुगुणगान, (३) मन्त्रजाप, (४) गुरुसेवा, (५) सत्संग, (६) शील-धर्म, (७) समभाव, (८) भगवान् के प्रति विश्वास और (९) ईश्वर को सर्वव्याप्त मानना।

(विस्तार के लिए देखिए मानस, अरण्य काण्ड, दोहा सं० ३५ चौ० ६ से दोहा सं० ३६ चौ० ६ तक)

इन दोनों सूची में चार एक ही हैं; मिलते-जुलते हैं। इस तरह अठारह (९+९=१८) में से ४ कम कर देने से शेष चौदह बचते हैं। ये ही १४ भेद १४ स्थान के रूप में व्यक्त हुए हैं, वाल्मीकिजी द्वारा श्रीराम प्रति।

जब श्रीराम ने उनसे पूछा है कि वे अनजान वनप्रान्त में पत्नी और लघु भाई के साथ कहाँ निवास करें तब मुनि ने जो १४ स्थान बताए हैं, वे मूलतः भक्ति के भेद हैं, जिन्हें साधन भी कहा जाता है।

इसका संक्षिप्त या सारांश रूप यहाँ दिया जा रहा है। विशेष विस्तार के लिए द्रष्टव्य हैं– मानसः अयोध्याकाण्ड, दो० सं० १२८ चौ० ४ से लेकर दो० सं० १३१ तक।

१. श्रवण :

जिन्ह के स्त्रवन समुद्र समाना।
कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना।।
भरहिं निरन्तर होहिं न पूरे।
तिन्ह के हिय तुम्ह कहुँ गृह रूरे।।

२. रूपासक्ति :

लोचन चातक जिन्ह करि राखे।
रहहिं दरस जलधर अभिलाषे।।
निदरहिं सरित सिन्धु सर भारी।
रूप बिन्दु जल होहिं सुखारी।।

३. कीर्तन :

जसु तुम्हार मानस बिमल हंसिनि जीहा जासु।
मुकताहल गुन गन चुनइ राम बसहु हियँ तासु।।

४. पूजा / अर्चना :

प्रभु प्रसाद सुचि सुभग सुबासा।
सादर जासु लहइ नित नासा।।
तुम्हहि निबेदित भोजन करहीं।
प्रभु प्रसाद पट भूषन धरहीं।।
सीस नवहिं सुर गुरु द्विज देखी।
प्रीति सहित करि बिनय बिसेषी।।
कर नित करहिं राम पद पूजा।
राम भरोस हृदयँ नहिं दूजा।।
चरन राम तीरथ चलि जाहीं।
राम बसहु तिन्ह के मन माहीं।।

५. नामासक्ति :

मन्त्रराजु नित जपहिं तुम्हारा।
पूजहिं तुम्हहि सहित परिवारा।।
तरपन होम करहिं बिधि नाना।
बिप्र जेवाँइ देहिं बहु दाना।।

६. ज्ञानवृत्ति :

काम कोह मद मान न मोहा।
लोभ न छोभ न राग न द्रोहा।।
जिन्ह कें कपट दम्भ नहिं माया।
तिन्ह कें हृदय बसहु रघुराया।।

७. भगवत श्रवण :

सब के प्रिय सब के हितकारी।
दुख सुख सरिस प्रसंसा गारी।।
कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी।
जागत सोवत सरन तुम्हारी।।

८. सन्तवृत्ति :

जननी सम जानहिं परनारी।
धनु पराव बिष तें विष भारी।।
जे हरषहिं पर सम्पति देखी।
दुखित होहिं पर बिपति बिसेषी।।

९. सर्वस्व-भाव :

स्वामि सखा पितु मातु गुर जिन्ह के सब तुम्ह तात।
मन मन्दिर तिन्ह कें बसहु सीय सहित दोउ भ्रात।।

१०. तितिक्षावृत्ति :

अवगुन तजि सब के गुन गहहीं।
बिप्र धेनु हित संकट सहहीं।।
नीति निपुन जिन्ह कइ जग लीका।
घर तुम्हार तिन्ह कर मनु नीका।।

११. कार्पण्यवृत्ति :

गुन तुम्हार समुझइ निज दोसा।
जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा।।
राम भगत प्रिय लागहिं जेही।
तेहि उर बसहु सहित बैदेही।।

१२. वैराग्यवृत्ति :

जाति पाँति धनु धरमु बड़ाई।
प्रिय परिवार सदन सुखदाई।।

१३. अनन्यवृत्ति :

सरगु नरकु अपबरगु समाना।
जहँ तहँ देख धरें धनु बाना।।
करम बचन मन राउर चेरा।
राम करहु तेहि कें उर डेरा।।

१४. शुद्ध प्रेमाभक्ति :

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरन्तर तासु मन सो राउर निज गेहु।।

(६) प्रीति की रीति : निष्काम प्रीति ही भक्ति कहलाती है। इसके पूर्व प्रीति की अनेक रीति है। बालक के प्रति अभिव्यक्त नीति 'वात्सल्य' कहलाती है, गुरुजनों के प्रति अभिव्यक्त होने पर यह श्रद्धा हो जाती है और नारी के प्रति होने पर 'रति' की

संज्ञा पाती है, भगवान् के प्रति व्यक्त शुद्ध प्रीति-भक्ति का रसधार बहाती है।

(१०) **भक्त के भेद :** शास्त्रीय दृष्टि से तुलसी ने भक्तों को चार भागों में बाँटा है– '**राम भगत जग चारि प्रकारा**' (१.२२.६)। (१) प्रथम वर्ग में अर्थार्थी हैं, जो धन हेतु भगवान् की भक्ति करते हैं, (२) दूसरे आर्तजन हैं, जो निज कष्टनिवारण हेतु उन्हें याद करते हैं, (३) तीसरे जिज्ञासु हैं जो भगवान् का परिचय चाहते हैं, उन्हें जानना चाहते हैं, (४) और चौथे ज्ञानी भक्त हैं, जो भगवान् को जानकर उनकी भक्ति करते हैं। ऐसे भक्त प्रभु को बहुत प्यारे होते हैं– '**ग्यानी प्रभुहि बिसेष पिआरा**' (१.२२.७)।

प्रभु भक्त को उसी रूप में प्राप्त होते हैं, जिस रूप वह उन्हें पाना चाहता है। मनु-शतरूपा ने उन्हें प्रभुरूप में 'दर्शन किया', अर्जुन ने सखा समझा; मीरा और कबीर ने उन्हें पति (स्वामी) माना; सूर ने सखा माना और तुलसी तथा हनुमान् ने अपने को प्रभु का दास माना और भरत की तरह उनकी उपासना की। जिसकी जैसी भावना रही।

तुलसीदास साकार ब्रह्म राम के उपासक हैं। उनमें सीता के प्रति भी श्रद्धा युक्त अनुराग है। वस्तुतः वे युगल सरकार के उपासक है। विनय-पत्रिका में इस सम्बन्ध में ये पंक्तियाँ मिलती हैं–

(१) **जानकी जीवन की बलि जैहौं–**
(वि०प० : १०४)

(२) **जाके प्रिय न राम बैदेही**
तजिए ताहि कोटि बैरी सम जदपि परम सनेही।।
(वि०प० : १७४)

कहा जाता है कि यह सन्देश तुलसी ने मीरा को भेजा था।

तुलसी मुक्ति नहीं चाहते, बल्कि राम के युगल चरण की निरन्तर भक्ति चाहते हैं; जैसे भरत ने चाहा था। उन्हीं के स्वर में तुलसी की भी राम से याचना है–

अरथ न धरम न काम रुचि न चहउँ निरबान।
जनम जनम रति राम पद यह वरदानु न आन।।
(मानस : २.२०८)

उनकी भक्ति एकनिष्ठ है, स्थिर है। विचलित होनेवाली नहीं है। स्वभावगत (प्रकृतिपरक) है। इसे उदाहरणों के साथ यों व्यक्त किया है–

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम।।
(मानस : ७.१३०)

इस असार संसार में तुलसी को यदि भरोसा है तो श्रीराम के नाम पर। इस बात की अभिव्यक्ति उन्होंने अनेक स्थलों पर की है। जैसे–

(१) **विश्वास एक राम नाम को।** (विनयपद १५५)
(२) **मन क्रम बचन जाके गति न आन की।** (४२)
(३) **सपनेहुँ गति न आन की।** (४२)
(४) **एक भरोसो एक बल एक आस विस्वास।**
एक राम घनस्यामहित चातक तुलसीदास।।
(दोहा : २७७)
(५) **राम की सौं भरोसो है राम को।**
(कवितावली : ७.३६)
(६) **मान्यों मैं न दूसरो न मानत न मानिहौ।**
(कविता० : ७.६३)
(७) **कहाँ जाऊँ कासो कहों और ठौर न मेरे।**
(विनय : १४२)

अपनी निश्छल और निष्ठापूर्ण भक्ति के बल पर तुलसी को विश्वास है कि वे राम के प्यारे बन गए हैं।

रामहिं प्रिय पावनि तुलसी सी।
(मानस १.३१.१२)

इस प्रकार तुलसी की भक्ति दासभाव की है। राम स्वामी हैं, तुलसी उनके सेवक। सेवक-स्वामी के सम्बन्ध के रूप अनेक हैं।

१२३६ / बी०, मानस सागार,
मुगलसराय, (चन्दौली),
उत्तर प्रदेश।

सुखस्य मूलं धर्मः

डा० रामविलास चौधरी

प्राचीन भारत जिन ऐतिहासिक विद्वद्विभूतियों से गौरवान्वित है, उनमें चाणक्य का नाम स्वर्णाक्षरों में उल्लेख्य है। उस काल के कवि अथवा विद्वान् या तो आश्रम में रहकर अपने चिन्तन को लेखनी का वरदान देते थे एवं ऋषि कहलाते थे अथवा राजा के दरबार में रहकर संस्कृत वाङ्मय को समृद्ध बनाते थे। किन्तु सम्पूर्ण संस्कृत जगत् में चाणक्य एक ऐसे विशाल व्यक्तित्व के अद्वितीय व्यक्ति हैं, जिन्होंने चिरकालीन शासकवंश को अपनी कुशाग्र बुद्धि एवं दृढ़ संकल्पशक्ति के बल पर राज्यच्युत कर एक दासीपुत्र को सिंहासनारूढ़ कर दिया। इसके बाबजूद कुश की झोपड़ी में रहकर मौर्य-शासन को सुदृढ़ एवं लोक-कल्याणकारी बनाने के लिए सतत चिन्तनशील एवं प्रयासरत रहे।

सुख की इच्छा सबों को होती है, जिसके लिए आधुनिक भौतिकवादी प्रवृत्ति समाज को अधिक-से-अधिक धनसंग्रह करने की ओर प्रेरित कर रही है। किन्तु विचार किया जाए तो धन सुख का कारण नहीं हो सकता। सुख का कारण तो धर्म है। इस रूप में धर्म की महत्ता पर सारगर्भित विचार प्रस्तुत है। –सं०

उनके गहन चिन्तन के फलस्वरूप एक महनीय एवं उपजीव्य ग्रन्थ का निर्माण हुआ, जिसे सारा विश्व 'कौटिल्य अर्थशास्त्र' के नाम से जानता है। नाम से तो यह ग्रन्थ अर्थशास्त्र है, किन्तु विषय-विवेचन की दृष्टि से राजनीति के गूढ़ तत्त्वों से गुम्फित है। यही कारण है कि राजनीतिशास्त्र के अधीती विद्वान् आज भी इसकी महनीयता एवं उपयोगिता को मुक्त कण्ठ से स्वीकारते हैं।

अर्थ को विवेच्य विषय बनाकर महान् ग्रन्थ के निर्माता चाणक्य उस (अर्थ) के प्रति कितना अनासक्त थे? इस ओर संकेत करते हुए संस्कृत-जगत् के उत्कृष्ट नाटककार विशाखदत्त ने लिखा है–

उपशकलमेतद्भेदकं गोमयानां
बटुभिरुपहतानां बर्हिषां स्तूपमेतत्।
शरणमपि समिद्भिः शुष्यमाणाभिराभिः
विनमितपटलान्तं दृश्यते जीर्णकुड्यम्।।
(मुद्राराक्षस : ३.१५)

अर्थात् इस घर में सूखे गोबर के कण्डों को तोड़नेवाला यह पत्थर का टुकड़ा है। शिष्यों के द्वारा लाए गए कुशों का यह ढेर है। सूखती हुई समिधाओं से झुके हुए छप्पर एवं फटी-पुरानी दीवारोंवाला यह (चाणक्य का) आवास दिखाई पड़ रहा है।

इससे यह सूचित होता है कि चाणक्य वास्तव में वीतराग पुरुष थे, क्योंकि उसके पास एक पत्थर भी पूरा नहीं, उसका टुकड़ा था। कोई नौकर भी नहीं, बल्कि शिष्य लोग ही कुश लाते थे। एक घर जिसका छप्पर झुका था तथा दीवार जीर्ण-शीर्ण थी। फिर भी वे अपने चिन्तन में लीन हैं। धन के आकर्षण से दूर हैं।

चाणक्य का मूल नाम विष्णुगुप्त था। उनके पिता थे– चणक। अतः गोत्रापत्य के कारण पुत्र का नाम चाणक्य पड़ा। कुछ विद्वानों के अनुसार पटना जिलान्तर्गत मसौढ़ी अनुमण्डल से ५ किलोमीटर पूर्व में स्थित चणाकी ग्राम के निवासी होने के कारण विष्णुगुप्त का दूसरा नाम चाणक्य था। उनका एक नाम कौटिल्य भी था। इसके सन्दर्भ में भी दो बातें कहीं जाती हैं। एक, कुटिलमति होने के कारण वे कौटिल्य के नाम से विख्यात हुए। चूँकि राजनीति कुटिलता से भरी होती है। अतः उन्होंने अपने ग्रन्थ का नाम भी 'कौटिल्य अर्थशास्त्र' रखा। अर्थप्राप्ति के लिए कुटिलता को अपनाना भी स्वाभाविक समझा जाता है।

अस्तु, अर्थ की आवश्यकता जिन्दगी जीने के लिए आवश्यक ही नहीं, अपरिहार्य भी है। चारों आश्रमों में गृहस्थाश्रम को मनु आदि मुनियों ने श्रेष्ठ ('सर्वश्रेष्ठ' शब्द संस्कृत व्याकरण के अनुसार अशुद्ध है) इसलिए कहा है कि गृहस्थों से ही सभी प्राणी धन-धान्य प्राप्त कर जीवन-निर्वाह करते हैं।

भारतीय परम्परा में चार पुरुषार्थ बताए गए हैं– धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। हितोपदेशकार के अनुसार धर्मपालन के कारण ही मनुष्य अन्य प्राणियों से विशिष्ट माना जाता है, अन्यथा भोजन, शयन तथा भय और मैथुन के प्रति सभी जीवों की समान प्रवृत्ति होती है–

आहारनिद्राभयमैथुनञ्च
सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।।

धर्म की बहुविध परिभाषाएँ विद्वानों ने दी है, जिनमें अधोलिखित परिभाषा बहुमान्य है–

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयःसिद्धिः स धर्मः।

अर्थात् जिससे लौकिक उन्नति या सफलता और पारलौकिक मोक्ष की सिद्धि (प्राप्ति) हो, वह धर्म है। यानी धर्म से लोक एवं परलोक इन दोनों में कल्याण होता है। हितोपदेशकार ने भी कहा है–

धनाद् धर्मः ततः सुखम्।

इनके अनुसार धर्म की प्राप्ति में धन कारण है। इसलिए धन के योग में पंचमी विभक्ति हुई है। धन कारण है धर्म का और धर्म कारण है सुख का। मानव-जीवन का साध्य है सुख, जिसमें साधन हैं धर्म तथा धन। इस तथ्य से पूर्ण परिचित थे महापण्डित चाणक्य। इसलिए उनका कथन है–

सुखस्य मूलं धर्मः। धर्मस्य मूलमर्थः।
(अर्थशास्त्र-सत्र : १.२)

अर्थात् सुख का मूल धर्म है और धर्म का मूल अर्थ है।

वास्तव में जीवन में धन की महती आवश्यकता तथा अपरिहार्यता रहने पर भी वह (धन) सुख का मूल या आधार नहीं हो सकता। देखने में आता है कि बड़े-बड़े धनाढ्य लोगों को प्रायः चीनी की बीमारी हो जाती है और चिकित्सक उन्हें मीठे एवं रसीले स्वादिष्ट पदार्थों के खाने से सख्त परहेज बताते हैं। इससे उनके जीवन में आनन्द ही लुप्त हो जाता है। सारी दौलत एवं सम्पदा व्यर्थ लगने लगती है। इसी तरह पुत्र नहीं रहने पर या उसे कपूत हो जाने पर भी सारा धन निरर्थक प्रतीत होता है, सुख की उम्मीद खत्म हो जाती है।

दूसरी ओर जो व्यक्ति धन का उपयोग धर्म के लिए करता है, वह हमेशा प्रसन्न एवं सन्तुष्ट रहता है। धर्म के मार्ग पर चलने में उसे बहुत सुख का अनुभव होता है। धन की प्रथम गति– दान जितना ही सुखकारी है उसकी अन्तिम गति– नाश उतना ही दुःखदायी। धन के बारे में चिन्तकों का यहाँ तक कहना है कि उसकी प्राप्ति में या उसके अर्जन में कष्ट है, अर्जित धन के संरक्षण में कष्ट है। उसकी आमदनी में तथा उसके खर्च में भी कष्ट है। अतः धन तो कष्ट का ही आश्रय है–

अर्थानामर्जने कष्टमर्जितानां च रक्षणे।
आये कष्टं व्यये कष्टं धिगर्थाः कष्टसंश्रयाः।।

इतना ही नहीं, पड़ोसी या सम्बन्धी लोग धनवान् से ईर्ष्या करते हैं। चोरों या लुटेरों की भी नजर उसपर पड़ती रहती है। राजनेता या अधिकारी भी मौके-बेमौके उससे धन-वसूली में लगे रहते हैं। आजकल एक नया वर्ग पैदा हो रहा है जो बड़ी बेदर्दी और बेरहमी से पैसे के लिए मासूम बच्चे तक का अपहरण कर लेता है और धनिकों से अधिकाधिक पैसे की माँग करता है। जरा भी ना-नुकुर करने पर अपहृत की हत्या भी कर देता है। दूसरा वर्ग जेल से ही भरपूर पैसे (रंगदारी) की माँग करता है और डर के मारे लोग जेल में ही या निर्दिष्ट स्थान पर पैसे पहुँचाने को बाध्य हो जाते हैं। अन्यथा फिर वही होता है, जिसकी कल्पना से आदमी भयाकुल हो जाता है।

अतः आवश्यकता से बहुत धन की प्राप्ति सुखकर नहीं मानी जा सकती। उसे पाकर आदमी व्यसनी एवं कुमार्गी हो जाता है। उससे उसका चरित्र ही नहीं, स्वास्थ्य भी नष्ट हो जाता है। पुत्र के लिए भी बहुत धनसंचय की आवश्यकता को नकारते हुए अलंकार के माध्यम से कहा गया है–

पुत्रः यदि कुपुत्रः स्यात् किमर्थं धनसञ्चयः।
पुत्रः यदि सुपुत्रः स्यात् किमर्थं धनसञ्चयः।।

इसी भाव को हिन्दी भाषा में भी कहा गया है–

पूत सपूत तो का धन अरजें।
पूत कपूत तो का धन अरजें।।

दूसरी ओर धर्म के सम्बन्ध में विचार करने पर निष्कर्षतः धर्म सुखदायी है, दुःखदायी नहीं। धर्म से यहाँ तात्पर्य तीर्थ या मन्दिर-मस्जिद गुरुद्वारा में जाकर सिर झुकाना या पूजा-स्तुति करना मात्र नहीं है। इन कार्यों को ही धर्म मानने पर उस (धर्म) का क्षेत्र बड़ा सीमित हो जाएगा। सम्भवतः अँगरेजी भाषा का (Religion) शब्द इन कार्यों के लिए प्रयुक्त हो जाता है। संस्कृत में धर्म के आठ रूप बताएँ गए हैं– यज्ञ, अध्ययन, दान, तप, सत्य, धैर्य, क्षमा और अलोभ–

इज्याध्ययन-दानानि तपः सत्यं धृतिः क्षमा।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः।।

वहाँ यह भी कहा गया है कि पूर्व के चार (यज्ञ, अध्ययन, दान और तप) का आचरण तो पाखण्डी और कपटी भी स्वार्थसिद्धि के लिए कर सकते हैं, किन्तु उत्तरवर्ती चार (सत्य, धैर्य, क्षमा और अलोभ) का आचरण तो महान् व्यक्ति ही कर सकते हैं–

तत्र पूर्वश्चतुर्वर्गो दम्भार्थमपि सेव्यते।
उत्तरस्तु चतुर्वर्गो महात्मन्येव तिष्ठति।।

भारतीय संविधान में भारत को समाजवादी देश (Socialistic Country) घोषित किया गया है, जिसका उद्देश्य या तात्पर्य है कि समाज के हित को ध्यान में रखकर व्यक्ति या संस्था की सम्पत्ति सरकार के द्वारा कभी भी अधिगृहीत की जा सकती है। यह अवधारणा आधुनिक युग में भारत में पश्चिमी देशों से आई है।

इंगलैण्ड के जे० एस० मील तथा वेन्थम ने उन्नीसवीं सदी में उपयोगितावादी सिद्धान्त के अन्तर्गत समाजवादी विचारधारा को प्रतिपादित किया था, इसपर कार्ल मार्क्स का भी प्रभाव है।

भारतीय चिन्तनधारा में आज से हजारों वर्ष पहले इस तरह की धारणा व्यक्त की गई है। श्रीमद्भागवत में कहा गया है–

यावद् भ्रियेत जठरं तावत्सत्त्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति।।
(७.१४.८)

अर्थात् जितने से मनुष्य की उदरपूर्ति हो जाए, उतने पर ही उसका अधिकार है। उससे अधिक (सम्पत्ति) को अपना मानने का जो अहंकार करता है, वह चोर है। अतः दण्डनीय है।

यहाँ अधिक सम्पत्ति को अपना (समाज के लिए नहीं) मानने के अहंकार को वर्जित किया गया है, न कि अधिक सम्पत्ति रखने या कमाने का। अतः आधुनिक समाजवादी धारा का मूल रूप यहाँ द्रष्टव्य है।

संसार के प्रायः सभी धर्मों में सत्य, धैर्य, क्षमा तथा अलोभ को धर्म के रूप में माना गया है। वास्तव में ये मानव मात्र के लिए शाश्वत धर्म हैं, जिन्हें सामान्य धर्म भी कहा जा सकता है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि भारतीय चिन्तन-धारा में धर्म के उपर्युक्त आठ प्रकारों में यज्ञ को छोड़कर शेष सभी जैन एवं बौद्धधर्म में भी उसी रूप में माने गए हैं। संस्कृत के महान् कवि कालिदास धर्म को कर्तव्य का पर्याय मानते हैं। वे कहते हैं कि जैसे सूर्य और हवा हमेशा अपने कार्य में लगे रहते हैं, वैसे राजा (षष्ठांशवृत्ति) का भी यही धर्म है–

भानुः सकृद्युक्ततुरङ्ग एव
रात्रिन्दिवं गन्धवहः प्रयाति।
शेषः सदैवाहितभूमिभारः
षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः।।

वास्तव में मानवीय कर्तव्यों में अध्ययन (शिक्षा) दान, तप, सत्य, धैर्य क्षमा और लोभनिवृत्ति– ये सभी आते हैं। व्यवहार में कहा जाता है कि जो हमारा उपकार करता है उसका प्रत्युपकार करना हमारा धर्म है। धर्म कर्तव्य का ही बोधक है। यदि सभी लोग कर्तव्यनिष्ठ हो जाएँ तो दुःख की कोई बात ही नहीं रहेगी। सभी को सुख का ही अनुभव होगा।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि धर्म की ऐसी व्याख्या की जाने पर संसार के किसी भी धर्म-मार्ग पर चलनेवाले को अथवा अधार्मिक और नास्तिक को भी धर्म से कोई शिकवा-शिकायत नहीं रहेगी। तभी रामराज्य के बारे में तुलसीदासजी की वह परिकल्पना मूर्तरूप ग्रहण करेगी जिसमें कहा गया है–

नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना।

इस तरह चाणक्य की यह उक्ति अत्यन्त ही सर्वजनोपयोगी है–

सुखस्य मूलं धर्मः।

पटना विश्वविद्यालय,
पटना।

* * *

तुलसी को नमस्कार

या दृष्टा निखिलाघसंघशमनी स्पृष्टा वपुष्पावनी
रोगाणामभिवन्दिता निरसनी सिक्तान्तकत्रासिनी।
प्रत्यासत्तिविधायिनी भगवतः कृष्णस्य संरोपिता
न्यस्ता तच्चरणे विमुक्तिफलदा तस्यै तुलस्यै नमः।।

जो दर्शन करने पर समस्त पापों का नाश करनेवाली हैं, स्पर्श करने पर शरीर को पवित्र करनेवाली हैं, वन्दना करने पर रोगों का निवारण करनेवाली हैं, जल चढ़ाने पर यमराज को भी भयभीत करनेवाली हैं, रोपने पर कृष्ण के समीप ले जानेवाली हैं तथा भगवान् के चरणों में चढ़ाने पर मोक्ष प्रदान करनेवाली हैं, उस तुलसी को नमस्कार है।

पन्थ और सम्प्रदाय : धर्म के निकट या दूर

डा० विनोद कुमार सिन्हा

धर्म एक आध्यात्मिक परिवर्त्तन है– एक अन्तर्मुखी रूपान्तरण है। यह अन्धकार से प्रकाश की तरफ जाता है, असत्य से सत्य की तरफ जाता है और आत्मोद्धार-हीनता से आत्मोद्धार तथा आत्मविकास की स्थिति में पहुँचाता है।

आज से दो हजार वर्ष पूर्व केवल 'धर्म' शब्द का उपयोग होता था। धर्म का वर्गीकरण नहीं हुआ था। कोई व्यक्ति हिन्दूधर्म, बौद्धधर्म, जैनधर्म आदि नहीं कहता था।

विश्व में कई धार्मिक समुदाय हैं। परन्तु वे समुदाय किसी स्थानविशेष या देशविशेष में जन्म लेने, पनपने तथा वहाँ की विशेष भौगोलिक, सामाजिक अवस्थाओं से प्रभावित होने के कारण विभिन्न सम्प्रदाय में रूपान्तरित हो गए।

धर्म का वास्तविक स्वरूप विवाद का विषय रहा है। भारत के अनेक मनीषियों ने अपने देश, काल और पात्र के अनुसार धर्म का स्वरूप एवं उसकी दिशा का निर्धारण कर अनेक पन्थों / सम्प्रदायों का प्रवर्तन किया। प्रस्तुत लेख में लेखक की मान्यता है कि ये सम्प्रदाय धर्म की सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक व्याख्या नहीं करते हैं। साथ ही अनेक परिस्थिति-जन्य कारणों से ये धर्म से दूर होते जा रहे हैं। – सं0

परन्तु हमारे भारत में कई पन्थों तथा सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ। कोई भी धर्म जब यह दावा करे कि मैं धर्म ही सबसे उत्तम हूँ– मेरा मार्ग ही सर्वोत्तम है, अन्य नहीं तो वह धर्म सम्प्रदाय बन जाता है। उस धर्म को माननेवाले लोग एक 'पन्थ' का रूप ले लेते हैं तथा सम्प्रदायवादी हो जाते हैं।

भारत में सौभाग्य या दुर्भाग्य से या संयोग से कई धर्म आए, जिन्होंने सम्प्रदाय का रूप ग्रहण कर लिया– ये सब सनातन धर्म या हिन्दू धर्म के ही विभिन्न रूप थे या हैं।

रामायण काल में भी शैव सम्प्रदाय, शाक्त-सम्प्रदाय एवं वैष्णव सम्प्रदाय की चर्चा आई है, जब कि रामचरितमानस के रचयिता गोस्वामी तुलसीदास ने एक समन्वयवादी भूमिका निभाई है।

स्वामी विवेकानन्द ने २ फरवरी १६०० को कैलिफोर्निया के सेक्सपियर क्लब में 'बौद्धकालीन-भारत' के सम्बन्ध में दिए गए एक भाषण में कहा था– "भारत में बौद्धधर्म ही पहला सम्प्रदाय था। सर्वप्रथम उन्हीं लोगों ने कहा कि हमारा ही एक मात्र रास्ता है। हमारे सन्घ में सम्मिलित हुए बिना तुम मुक्त नहीं हो सकते हो। वे बोले-यही सच्चा मार्ग है। परन्तु हिन्दूरक्त होने के कारण दूसरे देशों के समान पत्थरदिल साम्प्रदायिक नहीं हो सके।"

बौद्धधर्मी भले ही साम्प्रदायिक हों, परन्तु गौतम बुद्ध कभी भी साम्प्रदायिक कट्टरता के पक्षधर नहीं थे। वे कहते थे कि धर्म अन्धानुकरण की माँग कभी नहीं करता। धर्म के प्रति जब अन्धभक्ति हो जाती है, तब वह कट्टरता का रूप

ले लेता है, सम्प्रदाय का रूप ले लेता है और अनेक समस्याओं का जन्म हो जाता है।

गौतम बुद्ध का जब देहावसान हो रहा था, तब उन्होंने शिष्य से कहा– “आज मैं जो कुछ हूँ; मैंने ही बनाया है। प्रयास करके मेरे समान स्वयं को बना लो। परिश्रम करके स्वयं अपनी मुक्ति प्राप्त करो।”

गौतम बुद्ध ने कभी यह नहीं कहा कि ‘**अहं ब्रह्मास्मि**’ (मैं ही परमात्मा हूँ)। वे अपने को ‘तथागत’ कहते थे जिसका अर्थ है वह व्यक्ति, जो सत्य को जान गया हो।

शिष्यों ने पूछा कि आपके लिए कैसा स्मारक बनवाएँ?

गौतम बुद्ध ने कहा कि चाहो तो ऊँचा टीला बना देना या कुछ भी मत करना। उन्होंने यह कदापि नहीं कहा मेरे नाम पर ताजमहल या विश्व का कोई आश्चर्य प्रतीक बना दो।

गौतम बुद्ध ने कोई नया मार्ग नहीं बनाया। डा० राधाकृष्णन ने उनके सम्बन्ध में अपनी पुस्तक ‘धर्म और संस्कृति’ में लिखा है– “बुद्ध एक नए प्रकार के मुक्त मानव के विकास का उद्देश्य लेकर चले। वे मानव को पूर्वाग्रहों से मुक्त देखना चाहते थे। एक ऐसा मानव उनका काम्य था, जो अपनी आत्मा को अपना दीपक– ‘अत्तदीप’ बनाकर अपने भविष्य का स्वयं निर्माण करने को संकल्पित हो।”

परन्तु बौद्ध सम्प्रदाय के लोगों ने उनके संकल्प पर कम ध्यान दिया और सर्वप्रथम मूर्तियों का उपयोग किया। बड़े-बड़े मन्दिर बने, मूर्तियाँ स्थापित की गईं और हर तरह के ताम-झाम का आविर्भाव हुआ।

आज से छह सौ वर्ष पूर्व ‘कबीर’ नामक एक सन्त का प्रादुर्भाव हुआ। धर्म को सभी प्रकार की संकीर्णता से दूर कर व्यापक और सर्वसुलभ बनाना ही उनका संकल्प था। कबीर ने अपनी भीतरी शक्तियों की पहचान की, जिसके फलस्वरूप वे धर्म के मर्म को जान सके। वे धनसंग्रह के विरोधी थे।

कबीर जीवन भर काशी में रहे, परन्तु यह जो मिथक है कि काशी में मरने पर मोक्ष होता है, इस मोक्ष-मिथ को तोड़ने के लिए उन्होंने विद्रोह किया और मृत्यु स्थान मगहर को चुना। कबीर को मोक्ष की आवश्यकता नहीं थी और न मृत्यु के उपरान्त वैकुण्ठ जाने की।

परन्तु आज उनके नाम पर अलग-अलग ईश्वर, अनेक धर्म, धार्मिक विखण्डन फैलाया जा रहा है। जिस आदमी ने छूआछूत के खिलाफ, प्रणाम-बन्दगी के खिलाफ आवाज उठाई, वहाँ पर चरणामृत पीने की परम्परा चल गई है। कुछ कबीरपन्थियों ने इस पन्थ को स्वजीविका-साधन की महत्त्वाकांक्षा से तन्त्र, ज्योतिष, झाड़-फूँक आदि कर्मकाण्डों को अपना लिया है।

अब एक चिन्तन का विषय यह भी है कि भारत में सम्प्रदाय की आवश्यकता क्यों पड़ी? जब निरक्षर लोग या मूर्ख लोग किसी गुरु के शिष्य बनने लगे, तब उस तथाकथित धर्म के प्रचार-प्रसार हेतु सम्प्रदाय की आवश्यकता पड़ी होगी। फिर सम्प्रदाय में राजनीति का दुर्गुण आ गया। जिस तरह से आज विभिन्न राजनीतिक दल कहते हैं कि मेरा दल ही भारत को स्वर्ग पहुँचा देगा, ‘गरीब’ शब्द ही भारत के शब्दकोश से समाप्त हो जाएगा, उसी प्रकार ये आध्यात्मिक सम्प्रदायवाले भी कहते हैं कि हमारा सम्प्रदाय ही सत्ययुग का द्वार है– इस सम्प्रदाय के भक्त ही परम पिता परमेश्वर के दर्शन कर सकते हैं।

इस सम्बन्ध में डा० राधाकृष्णन ने कहा है– “जब धर्म संगठन का रूप ले लेता है, तब मनुष्य

की स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है। यदि हम यह सोचें कि ईश्वर-सम्बन्धी किस धारणा को हम स्वीकार करते हैं, यह हमारे जीवन-मरण का प्रश्न है तो यह हमारा हृदय क्रोध से भर जाता है। ईश्वर की पूजा करने के बजाए हम उस समूह या अधिष्ठाता की पूजा करने लगते हैं, जो ईश्वर के नाम पर बोलने का दावा करता है।”

जिस तरह तिलक, चन्दन, कण्ठी को लोगों ने धर्म का प्रतीक मानना प्रारम्भ कर दिया है, गंगास्नान को सभी पापों का नाशक समझ लिया है, उसी तरह ये सम्प्रदायवादी लोग धर्म से दूर और पाखण्ड के निकट आने लगे हैं।

सच्चे धार्मिक जीवन की अभिव्यक्ति जनकल्याण में होनी चाहिए। जनकल्याण में रहकर मनुष्य अपने को जितना पवित्र रख सकता है, उतना रुद्राक्ष और तुलसीकाष्ठ की माला पहनकर, ललाट पर त्रिपुण्ड लगाकर, शरीर पर भस्म पोतकर, तीर्थयात्रा और पवित्र नदियों में स्नान करके, ध्यान-मनन या प्रतिमा-पूजन करके नहीं–

रूद्राक्षं, तलसी-काष्ठं, त्रिपुण्डं, भस्म-धारणम्।;
यात्रास्नानादिहोमाश्च जपा वा देवदर्शनम्।
नैते पुनन्ति मनुजं यथा भूतहिते रतिः।

मांसाहार एवं मदिरा-पान गलत आहार हैं, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि शाकाहारी और मदिरा न पीनेवाला व्यक्ति धर्म का प्रमुख पण्डा है– वह जो करता है, वह सभी धर्म है। अगर वह असत्य बोलता है, गलत ढंग से धन-उपार्जन करता है, वेतन लेकर उचित सेवा नहीं करता है, रिश्वत लेता है, दूसरों को पीड़ा पहुँचाता है, फिर भी धार्मिक है; क्योंकि वह शाकाहारी है– यह तर्कसंगत नहीं। इस सम्बन्ध में स्वामी आत्मानन्द ने ‘विवेक-ज्योति’ पत्रिका के मार्च ०२ अंक में लिखा है– “एक ऐसा व्यक्ति हो सकता है, जो लूट-पाट करता हो, डाके डालता हो, पर शायद वह सिगरेट नहीं पीता। वह सिगरेट का कट्टर विरोधी हो जाता है और किसी को सिगरेट पीते देखकर केवल इसी कारण उसकी तीव्र निन्दा करने लगता है। उसके मत में यदि सब शाकाहारी हो जाएँ तो दुनिया की समस्याएँ निर्मूल हो जाएँगी। पर वह नहीं देखता कि शाकाहारी व्यक्तियों में कितने वंचक, रक्त चूसने वाले और झगड़ा करनेवाले व्यक्ति हैं। वे मांस नहीं खाते, पर छल-फरेब और लूट-खसोट के माध्यम से मनुष्यों का खून चूसते हैं। यही मनुष्यों की स्वाभाविक स्वार्थपरता और एकांगीपन है, जिसे स्वामी विवेकानन्द ने ‘दुराग्रह का रोग’ माना है।”

कोई मांसहारी व्यक्ति या शराबी व्यक्ति कभी धार्मिक हो नहीं सकता– कभी धर्म की, ज्ञान की बात कर नहीं सकता, कोई कलाकार, साहित्यकार या राजनीतिज्ञ कभी धर्म की बात कर नहीं सकता– धर्म के वास्तविक ठीकेदार ये साम्प्रदायिक लोग ही हैं– यह मानना भी ठीक उसी तरह का दुराग्रह है।

आप भाई से, पुत्र से या किसी से घृणा करते हैं और कहते हैं कि मुझे ईश्वर का दर्शन होता है, तब आप अवश्य ही झूठ बोलते हैं। कोई भी धर्म तत्त्व चाहे जितना भी बड़ा हो, सत्य से बड़ा नहीं हो सकता– ऐसा सभी सन्तों ने, महात्माओं ने माना है।

धर्मों का इतिहास बताता है कि कोई भी धर्म असहिष्णु, एकान्तिक तथा स्वार्थपरक होता है तो बहुत ही दुःखद परिणाम होते हैं।

एक बार एक अमेरिकी मिशनरी ने गांधीजी से कहा था कि ईसाईयत का मार्ग ही सर्वोत्तम है। गांधीजी ने उससे कहा– “आप ऐसा मान बैठे हैं कि आपको सब धर्मों के बारे में जानकारी है। लेकिन ऐसा तो आप तब कह सकते हैं, जब आप खुद ईश्वर हों। मैं आपको समझाना चाहता हूँ कि आप

दुहरे छलावे में हैं। आप अपने लिए जिस चीज को सर्वोत्तम मानते हैं, उसे सारी दुनिया के लिए भी सर्वोत्तम समझते हैं। यह तो एक प्रकार से अपने को सर्वज्ञ मान बैठना है। यह अपने पर अमोघत्व का आरोप कर लेना है।"

अगर हम यह दावा करें कि मेरा धर्मतत्त्व या सम्प्रदाय प्रामाणिक है। उसका अनुगत होना सबके लिए अनिवार्य है, यह प्राप्ति की अमोघ औषधि है, तो यह दावा कदापि तर्कसंगत नहीं माना जा सकता।

अपनी पत्रिका 'ऋषि-प्रसाद' के ४ मार्च २००० अंक में आशा राम बापू ने भी लिखा है– "पहले साधनाकाल में जब मैं स्वामी नारायणवालों के पास गया तो उन्होंने कहा– "तुम स्वामी नारायणवाले बनोगे तभी भगवान् मिलेंगे। तब मैंने पूछा– स्वामी नारायण सम्प्रदाय कब बना? उन्होंने कहा– २०० वर्ष हुए। मैंने पूछा– दो सौ वर्ष पहले इस जगत् में भगवान् नहीं थे क्या? इसका उत्तर वे नहीं दे सके। उनकी बातें गले नहीं उतरीं। मत-पन्थ और सम्प्रदाय की बातों में पहली-दूसरी भूमिका में बाल-साधक नहीं फँसता। ....। जो मत, पन्थ, सम्प्रदाय में रुके हैं और अपने को उन्हीं का मानते हैं तो समझ लो कि वे यात्रा करना नहीं चाहते।

ये धार्मिक सम्प्रदाय आज धर्म से दूर हो रहे हैं, जिसके प्रमुख तीन कारण हैं–

(१) **आलोचना की प्रवृत्ति**– हम धार्मिक कम और आलोचक अधिक हो गए हैं। दूसरे का छिद्रान्वेषण करना भी अधर्म है। परन्तु ये साम्प्रदायिक लोग इसे भी धर्म का एक तत्त्व समझने की भूल कर बैठते हैं। इसके बदले में हमें आत्मविश्लेषण या आत्मालोचना करनी चाहिए जिसे लोग नजर-अन्दाज कर बैठते हैं।

(२) **धर्मों की संकीर्णता**– इसके कारण विभिन्न धर्म एक दूसरे की सहायता करने के बजाय एक दूसरे की प्रतियोगिता कर रहे हैं। धर्म बड़ा व्यापक चीज है। यह सर्वव्यापी है। भले ही हमारे मार्ग अलग-अगल हों, लेकिन हमारा लक्ष्य एक है। हमें एक दूसरे को आत्मिक बन्धु मानना चाहिए, न कि प्रतियोगी।

(३) **धर्म में राजनीति का प्रवेश**– आज बात उलटी हो गई है। आज आवश्यकता है राजनीति को धर्मयुक्त बनाने की न कि धर्म को राजनीतियुक्त बनाने की।

ऐसा लिखा गया है कि जो अपने कर्तव्य से विमुख होकर केवल जिह्वा से कृष्ण-कृष्ण रटते हैं, वे कभी ईश्वर के प्रिय नहीं हो सकते। ऐसे लोग न भक्त होते हैं और न धर्म के पालन करने वाले। धर्म धर्म है– इसे दुकानदारी न बनाएँ, राजनीति न बनाएँ। आप सम्प्रदाय बनाकर, पन्थ बनाकर धार्मिक प्रसार नहीं कर रहे हैं, पाखण्ड कर रहे हैं। यह एक ठहराव है, उलझन है, जिसमें आप लोगों को उलझा रहे हैं, विराम पैदा कर रहे हैं और आपके सम्प्रदायवादी लोग अपने लक्ष्य को भूलकर आपके पाखण्ड में मोहग्रस्त हो रहे हैं।

'अशोक महान्' के बारहवें शिलालेख में जो लिखा है, उसका भाव है– "जो मनुष्य अपने धार्मिक सम्प्रदाय के मोह में पड़कर उसकी गौरववृद्धि की इच्छा से दूसरे धर्म-सम्प्रदायों के निन्दा करता है और अपने धर्म-सम्प्रदाय के प्रति समादर प्रकट करता है तो वह वास्तव में अपने इस आचरण से अपने ही सम्प्रदाय को भारी क्षति पहुँचाता है।" इसलिए विभिन्न सम्प्रदायों के बीच मेल-मिलाप पैदा करना श्लाघ्य है।

ग्राम+पो०- बेलाही, वाया- अथरी,
जिला- सीतामढ़ी- ८४३३११
(बिहार)

‘पार्वती-मंगल’ की रचना का कालनिर्धारण

✍ भवनाथ झा

गोस्वामी तुलसीदास के जीवनकाल का निर्धारण अनेक विवादों से भरा हुआ है। मृत्युकाल के सम्बन्ध में तो विक्रम संवत् १६०० से लेकर १६८० विक्रम संवत् तक के बीच अनिश्चित है। इस अनिश्चितता के निवारण के लिए गोस्वामी तुलसीदास कृत पार्वती मंगल का दोहा बहुत महत्त्वपूर्ण है–

जय संवत् फागुन सुदि पाँचइ गुरु दिन।
अस्विनि विरचेउँ मंगल सुनि सुख छिन छिन॥

इसके अनुसार पार्वती मंगल की रचना ‘जय’ नामक संवत्सर में फाल्गुन शुक्ल पंचमी गुरुवार को सम्पन्न हुई। उस समय अश्विनी नक्षत्र भी था।

‘धर्मायण’ के अंक ६३ में आचार्य किशोर कुणाल के तुलसीदास-विषयक आलेख में इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। उसके अनुसार बनारस के प्रसिद्ध ज्योतिषी पं० गणेशदत्त पाठक का मत है कि उक्त योग १५८२ विक्रम संवत् में पड़ता है, जबकि स्वामी कन्नूपिलाई के मत में १६४३ विक्रम संवत् में पड़ता है। ऐसा मतवाद उपस्थित होने के कारण इस विषय पर पुनर्विचार की आवश्यकता का अनुभव हो रहा है।

महावीर मन्दिर, पटना में कम्प्यूटर से जन्म कुण्डली निर्माण के लिए फ्यूचर पॉइन्ट दिल्ली का सॉफ्टवेयर लगा हुआ है। इसकी सहायता लेकर ज्योतिषशास्त्र के अनुसार इस सम्बन्ध में इस प्रकार का विवेचन प्रस्तुत है।

आधुनिक खगोल-विज्ञान के अनुसार सभी ग्रह सूर्य की परिक्रमा करते हैं, किन्तु प्राचीन ज्योतिषशास्त्र में भू-केन्द्रीय सिद्धान्त मानकर सभी ग्रहों को पृथ्वी की परिक्रमा करनेवाला माना गया है। एक महायुग में सभी ग्रह कितनी बार परिक्रमा करते हैं, इसकी नियत गणना भी की गई है। इस गणना को भगण कहा गया है। सूर्यसिद्धान्त के अनुसार सूर्य एवं बृहस्पति के भगण निम्नलिखित हैं–

युगे सूर्यज्ञशुक्राणां खचतुष्करदार्णवाः। (१/२९)

बृहस्पतेः खदस्त्राक्षिवेदषड्वह्नयस्तथा॥ (१/३१)

इसके अनुसार एक महायुग में ४३,२०,००० बार सूर्य बुध एवं शुक्र परिक्रमा करते हैं, जबकि बृहस्पति ३,६४,२२० बार परिक्रमा करते हैं। ग्रहों के परिक्रमणपथ को १२ राशियों में बाँटा गया है। एक सौरवर्ष में सूर्य की यह परिक्रमा पूरी हो जाती है इसलिए सूर्य के भगण में बृहस्पति के भगण से भाग देने पर भागफल के रूप में बृहस्पति का परिक्रमण काल प्राप्त होता है, जो कि ११ वर्ष १० मास एवं १० दिन लगभग होता है।

ज्योतिषशास्त्र में बृहस्पति के पाँच परिक्रमणकाल को ६० वर्षों में बाँटा गया है। ये साठ बार्हस्पत्य वर्ष कहलाते हैं। इनकी सूची अग्निपुराण के १३९ वें अध्याय में तथा सूर्यसिद्धान्त, मकरन्द-प्रकाश आदि ज्योतिष के ग्रन्थों में उपलब्ध है। इन साठ संवत्सरों का एक चक्र ५९ वर्ष ३ मास एवं २० दिन में पूर्ण होता है। नारायण दैवज्ञ कृत मकरन्द-प्रकाश में यह सूची इस प्रकार है–

प्रभवो विभवः शुक्लः प्रमोदोऽथ प्रजापतिः।
अङ्गिराः श्रीमुखो भावो युवा धाता तथैव च॥२॥
ईश्वरो बहुधान्यश्च प्रमाथी विक्रमो वृषः।
चित्रभानुश्च स्वर्भानु-स्तारणः पार्थिवो व्ययः॥३॥
सर्वजित् सर्वधारी च विरोधी विकृतः खरः।
नन्दनो विजयश्चैव जयो मन्मथ-दुर्मुखौ॥४॥
हेमलम्बो विलम्बश्च विकारी सर्वरीप्लवः।
शुभकृत् शोभनः क्रोधी विस्वावसु-पराभवौ॥५॥

प्लवङ्गः कीलकः सौम्यः साधारण-विरोधकौ।
परिधावी प्रमाथी च आनन्दो राक्षसोऽनलः॥६॥
पिङ्गलः कालयुक्तश्च सिद्धार्थो रौद्र दुर्मतिः।
दुन्दुभी रुधिरोद्गारी रक्ताक्षः क्रोधनो क्षयः॥७॥
बार्हस्पत्या इमे प्रोक्ताः वत्सराः मुनिभिः क्रमात्।
तेषु विंशतिकाधीशा ब्रह्मा विष्णुः शिवः स्मृताः॥८॥

इनमें 'प्रभव' से 'व्यय' तक बीस संवत्सरों के स्वामी ब्रह्मा कहे गए हैं, इसी प्रकार अगले बीस के स्वामी विष्णु तथा अन्तिम बीस के स्वामी शिव माने गए हैं।

इन प्रभवादि संवत्सरों की गणना के अनुसार 'पार्वती-मंगल' में उल्लिखित 'जय' संवत्सर अट्ठाईसवाँ है।

चूँकि ज्योतिषशास्त्र के अनुसार सभी प्रकार की गणनाएँ शक-संवत् के आधार पर की जाती है, इसलिए १५८२ विक्रम-संवत् को शक-संवत् में बदलते हैं, जो १४४७ होता है। फाल्गुन शुक्ल पंचमी तिथि शक संवत्सर का ११ वाँ मास है, इसलिए 'जय' वर्ष की गणना के लिए आगामी शक संवत्सर १४४८ को आधार मानते हैं।

कम्प्यूटर से प्राप्त गणना के अनुसार फाल्गुन शुक्ल पंचमी दिनांक २७ फरवरी १५२६ ई० को थी। शकारम्भ १४ या १५ अप्रैल को लगभग निश्चित है। इस तरह फाल्गुन शुक्ल पंचमी १४४८ शक संवत् के आरम्भ से ४६ दिन पूर्व सिद्ध होता है। अतः बार्हस्पत्य वर्ष 'जय' की गणना १४४८ शक से करते हैं।

नारायण दैवज्ञ रचित 'मकरन्दप्रकाश' ग्रन्थ के **संवत्सराद्यानयनाधिकार** में इस गणना के लिए निम्नलिखित सूत्र उल्लिखित किया गया है–

द्विष्ठः शकाब्दः करयुग्मनिघ्नो
भूनन्दयुग्मश्रुति संयुतश्च।
शराद्रिवस्विन्दु हृतः सलब्धः
षष्ठ्याप्त शेषे प्रभवादयोऽब्दाः॥1॥

अर्थात् इष्ट शकाब्द को २२ से गुणा कर ४२९१ संख्या जोड़कर १८७५ से भाग दें। भागफल प्रथम लब्धि वर्षसंख्या है। शेष को १२ से गुणा कर पुनः १८७५ से भाग दें। भागफल द्वितीय लब्धि माससंख्या है। इस शेष को पुनः ३० से गुणा कर १८७५ से भाग देने पर भागफल तृतीय लब्धि 'चक्र' संख्या कहलाती है। शेष संख्या बार्हस्पत्य वर्ष की संख्या है। इसमें मास और दिन की संख्या जोड़कर भुक्त वर्षादि की गणना होती है।

इस सूत्र के अनुसार १४४८ शक संवत् के शकाब्दारम्भ में बार्हस्पत्य वर्ष की गणना–

१४४८ × २२ = ३१८५६
३१८५६ + ४२९१ = ३६१४७
३६१४७ ÷ १८७५ = भागफल– **१९** और शेष– ५२२
५२२ × १२ ÷ १८७५ = ६२६४ ÷ १८७५ = भागफल– **३** और शेष– ६३९
६३९ × ३० ÷ १८७५ = १९१७० ÷ १८७५ = भागफल– **१०** और शेष– ४२०
१४४८ । ०० । ००
१९ । ०३ । १०
१४६७ । ०३ । १० ÷ ६० = भागफल– २४ और शेष– **२७**

इस प्रकार भुक्त वर्षादि = **२७ । ०३ । १०**

इस प्रकार १४४८ शकाब्दारम्भ अर्थात् १५८3 विक्रम संवत् की मेष संक्रान्ति (१४ या १५ अप्रैल) को 'जय' नामक अट्ठाईसवाँ बार्हस्पत्य वर्ष था।

फाल्गुन शुक्ल पंचमी के दिन बृहस्पति मेष राशि के २३:२२:५७ अंश, कला एवं विकला पर मार्गी होकर अवस्थित है। इसका अर्थ है कि बृहस्पति एेम १४४८ शकाब्दारम्भ में भी उसी मेष राशि में अवस्थित हैं। अतः १४४८ के आधार पर की गई गणना १४४७ के फाल्गुन शुक्ल पंचमी के लिए भी संगत है।

अब उक्त दिन में वारगणना के लिए अहर्गण की गणना करते हैं। इसके लिए नारायण दैवज्ञ विरचित मकरन्दप्रकाश के मध्यमाधिकार में निम्नलिखित सूत्र का उल्लेख हुआ है।

नवनगेन्द्रकृशानुसमन्वितो
भवति शाकगणो गतवत्सरः।
कलिमुखादथ भानुगुणो गतै-
र्मधुसितादिकमासचयैर्युतः॥१॥

त्रिकगतः स च खाद्रिहृदाप्तयुक्
सुरहृदाप्तगताधिकमासयुक्।
खगुणसंगुणितस्तिथिसंयुतः
पृथगसौ शिवसंगुणितस्तथा॥२॥
गुणनभोधरणीधरभाजितोऽ
थ स च लब्धदिनावमवर्जितः।
दिनगणो रविमध्यमसावनः
सितमुखो भवतीह निशादले॥३॥

इस सूत्र के आधार पर शक संवत् १४४७ अर्थात् विक्रम संवत् १५८२ फाल्गुन शुक्ल पंचमी का अहर्गण इस तरह गणित कर सकते हैं–

१४४७ + **३१७९** = ४६२६ कलि संवत्
४६२६ × **१२** = ५५५१२ मास संख्या
५५५१२ ÷ **७०** = ७९३ भागफल
७९३ + **५५५१२** = ५६३०५
५६३०५ ÷ **३३** = १७०६ अधिकमास
५५५१२ + **१७०६** = ५७२१८
५७२१८ + **११** = ५७२२९ चैत्र से फाल्गुन तक की मास संख्या का योग
५७२२९ × **३०** = १७१६८७० दिनगण
१७१६८७० + ५ = १७१६८७५ पूर्व अमावास्या से इष्ट तिथि की संख्या का योग
१७१६८७५ × ११ = १८८८५६२५
१८८८५६२५ ÷ **७०३** = २६८६४ तिथिक्षय संख्या
१७१६८७५ – २६८६४ = **१६९००११** = अहर्गण
१६९००११ ÷ ७ = भागफल– २४१४३० और शेष– १

मकरन्दप्रकाश की गणना के अनुसार वार की गणना शुक्रवार से आरम्भ होती है। अतः शेष १ से शुक्रवार सिद्ध हुआ जो उस दिन की मध्यरात्रि का मिश्रमानकालिक वार है। कम्प्यूटर की गणना के अनुसार दिनांक २७ फरवरी १५२६ ई० का सूर्योदय चतुर्थी तिथि में हुआ। उसी दिन रात्रि में ८ बजकर १३ मिनट से वाराणसी में पंचमी तिथि आरम्भ हुई। इस तरह दूसरे दिन पंचमी में सूर्योदय हुआ। उस दिन शुक्रवार था, जो कम्प्यूटर की गणना और मकरन्द-प्रकाश की गणना से समान सिद्ध होता है। गोस्वामी तुलसीदास ने अश्विनी नक्षत्र का भी उल्लेख किया है। कम्प्यूटर की गणना के अनुसार दिनांक २७ फरवरी के प्रातःकाल ६:२८ बजे अश्विनी नक्षत्र का आरम्भ होता है, जो अगले दिन सूर्योदय काल से ८:३६ घटी पल अर्थात् ९:५२ बजे पर्यन्त है। इस दिन वाराणसी में सूर्योदय ६:२६:४६ बजे हुआ है। इस तरह बृहस्पतिवार की रात्रि के अवसान में उदय से पूर्व 'जय' संवत्सर फाल्गुन शुक्ल पंचमी तिथि, अश्विनी नक्षत्र एवं गुरुवार का योग उपस्थित है। तुलसीदासजी ने इस ब्राह्ममुहूर्त में पार्वतीमंगल काव्य की रचना की– ऐसा सिद्ध होता है। परम्परा भी काव्य रचना के लिए ब्राह्ममुहूर्त को सबसे उपयुक्त मानती है।

स्वामी कन्नु पिलाई की मान्यता के अनुसार पार्वतीमंगल की रचना १६४३ विक्रम संवत् अर्थात् १५०८ शक संवत् के फाल्गुन शुक्ल पंचमी को हुई थी। पूर्व सूत्र के अनुसार १५०९ शकाब्दारम्भ में 'जय' संवत्सर की गणना इस प्रकार की जाएगी–

१५०९ × २२ = ३३१९८
३३१९८ + ४२९१ = ३७४८९
३७४८९ ÷ १८७५ = भागफल– **१९** और शेष– १८६४
१८६४ × १२ ÷ १८७५ = २२३६८ ÷ १८७५ = भागफल– **११** और शेष– १७४३
१७४३ × ३० ÷ १८७५ = ५२२९० ÷ १८७५ = भागफल– २७ और शेष– १६६५
१५०९ । ०० । ००
१९ । ११ । २७
१५२८ । ११ । २७
५१२८ ÷ ६० = भागफल– ८५ और शेष– २८

इस तरह बार्हस्पत्य वर्ष भुक्त **२८ । ११ । २७**

संवत् १६४३ में फाल्गुन शुक्ल पंचमी के दिन गुरुवार दिनांक १४ फरवरी १५८७ ई० है। उस दिन ५:४४:५४ बजे संध्या के बाद अश्विनी नक्षत्र प्रारम्भ होता है। उस दिन गुरु मिथुन राशि के १७:३९:५४ अंश कला एवं विकला पर वक्री होकर अवस्थित हैं।

इसका अर्थ है कि अग्रिम १५०९ शकाब्दारम्भ में भी इसी राशि में रहेंगे। १५०९ के शकारम्भ में गणना करने पर उनीसवाँ बार्हस्पत्य वर्ष 'मन्मथ' सिद्ध होता है। १६४३ विक्रम संवत् के आरम्भ में तो 'जय' संवत्सर है, किन्तु फाल्गुन मास में 'मन्मथ' हो जाता है। फिर इस गणना में अश्विनी नक्षत्र भी सूर्योदय काल में प्राप्त नहीं है। इसलिए यह मान्यता असंगत हो जाती है।

१६४२ विक्रम संवत् के फाल्गुन शुक्ल पंचमी में जय वर्ष है, किन्तु इस दिन सोमवार पड़ता है। नक्षत्र भी भरणी है, अतः हर तरह से पं० गणेश दत्त पाठकजी की गणना सही है, जिसके अनुसार पार्वती मंगल की रचना विक्रम संवत् १५८२ फाल्गुन शुक्ल पंचमी गुरुवार तदनुसार २७ फरवरी १५२६ ई० के प्रातः काल उदय से पूर्व हुई थी।

ब्रह्माण्डपावन कृष्णकवच

ब्रह्मोवाच

राधाकान्त महाभाग कवचं यत् प्रकाशितम्। ब्रह्माण्डपावनं नाम कृपया कथय प्रभो।।
मां महेशं च धर्मं च भक्तं च भक्तवत्सल। त्वत्प्रसादनेन पुत्रेभ्यो दास्यामि भक्तिसंयुतः।।

श्रीकृष्ण उवाच

शृणु वक्ष्यामि ब्रह्मेश धर्मेदं कवचं परम्। अहं दास्यामि युष्मभ्यं गोपनीयं सुदुर्लभम्।।
यस्मै कस्मै न दातव्यं प्राणतुल्यं ममैव हि। यत्तेजो मम देहेऽस्ति तत्तेजः कवचेऽपि च।।
कुरु सृष्टिमिमं धृत्वा धाता त्रिजगतां भव। संहर्त्ता भव हे शम्भो मम तुल्यो भवे भव।।
हे धर्म त्वमिमं धृत्वा भव साक्षी च कर्मणाम्। तपसां फलदाता च यूयं भवत मद्वरात्।।
ब्रह्माण्डपावनस्यास्य कवचस्य हरिः स्वयम्। ऋषिश्छन्दश्च गायत्री देवोऽहं जगदीश्वरः।।
धर्मार्थकाममोक्षेषु विनियोगः प्रकीर्तितः। त्रिलक्षवारपठनात् सिद्धिदं कवचं विधे।।
यो भवेत् सिद्धकवचो मम तुल्यो भवेत्तु सः। तेजसा सिद्धियोगेन ज्ञानेन विक्रमेण च।।
प्रणवो मे शिरः पातु नमो रासेश्वराय च। भालं पायात् नेत्रयुग्मं नमो राधेश्वराय च।।
कृष्णः पायात् श्रोत्रयुग्मं हे हरे घ्राणमेव च। जिह्विकां वह्निजाया तु कृष्णायेति च सर्वतः।।
श्रीकृष्णाय स्वाहेति च कण्ठं पातु षडक्षरः। ह्रीं कृष्णाय नमो वक्त्रं क्लीं पूर्वश्च भुजद्वयम्।।
नमो गोपाङ्गनेशाय स्कन्धावष्टाक्षरोऽवतु। दन्तपंक्तिमोष्ठयुग्मं नमो गोपीश्वराय च।।
ॐ नमो भगवते रासमण्डलेशाय स्वाहा। स्वयं वक्षःस्थलं पातु मन्त्रोऽयं षोडशाक्षरः।।
ऐं कृष्णाय स्वाहेति च कर्णयुग्मं सदाऽवतु। ॐ विष्णवे स्वाहेति च कङ्कालं सर्वतोऽवतु।।
ॐ हरये नम इति पृष्ठं पादं सदाऽवतु। ॐ गोवर्द्धनधारिणे स्वाहा सर्वशरीरकम्।।
प्राच्यां मां पातु श्रीकृष्ण आग्नेय्यां पातु माधवः। दक्षिणे पातु गोपीशो नैर्ऋत्यां नन्दनन्दनः।।
वारुण्यां पातु गोविन्दो वायव्यां राधिकेश्वरः। उत्तरे पातु रासेश ऐशान्याम् अच्युतः स्वयम्।।
सन्ततं सर्वतः पातु परो नारायणः स्वयम्।
इति ते कथितं ब्रह्मन् कवचं परमाद्भुतम्। मम जीवनतुल्यं च युष्मभ्यं दत्तमेव च।।
अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च। कलां नार्हन्ति तान्येव कवचस्यैव धारणात्।।
गुरुमभ्यर्च्य विधिवत् वस्त्रालङ्कारचन्दनैः। स्नात्वा तं च नमस्कृत्य कवचं धारयेत् सुधीः।।
कवचस्य प्रसादेन जीवन्मुक्तो भवेन्नरः। यदि स्यात् सिद्धकवचो विष्णुरेव भवेद् द्विज।।

इति श्रीब्रह्मवैवर्ते महापुराणे ब्रह्मखण्डे महापुरुषब्रह्माण्डपावनं नाम श्रीकृष्णकवचं सम्पूर्णम्।

श्री रामानन्द का व्यक्तित्व एवं कृतित्व

डा० कैलाशनाथ द्विवेदी

मध्यकालीन भारतवर्ष में आविर्भूत जिन यशस्वी और वर्चस्वी सन्त महापुरुषों ने राष्ट्रीय सांस्कृतिक परिवेश को अपनी प्रकाण्ड प्रतिभा से उद्‌भासित किया, उनमें स्वामी श्री रामानन्दाचार्य अग्रगण्य और स्मरणीय हैं। पावन प्रयाग की उर्वरा धरा पं० पुष्प सदन शर्मा 'वाजपेयी' तथा श्रीमती सुशीला (मुखी) देवी नामक दम्पति से वि० सं० १३५६ की माघ मास में धन्य हुई, जब इसने रामदत्त (राम भारती)-जैसे दिव्य शिशु को जन्म दिया।

मध्यकालीन भारत में उग आए जातिवाद के विषवृक्ष को काटकर सभी वर्णों के लिए भक्ति का द्वार खोलनेवाले, सामाजिक क्रान्ति के पुरोधा सन्त रामानन्द के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर एक अति संक्षिप्त ऐतिहासिक विवेचन प्रस्तुत है। –सं०

शैशव से ही परम वीतराग इस बालक ने ज्ञानार्जन हेतु गृह त्याग दिया और समस्त विद्याओं की राजधानी काशी को प्रस्थान किया। इन्होंने वहाँ परम ज्ञानी एवं तपस्वी आचार्य राघवानन्द का शिष्यत्व ग्रहण कर वेद-वेदांग, योग, सांख्य, धर्मशास्त्र आदि की शिक्षा प्राप्त की। किसी अद्वैती आचार्य ने इनके गुणों की तो प्रशंसा की, किन्तु 'अल्पायु' होने की भविष्यवाणी जब की, तब इन्होंने अपनी अपमृत्यु को टालने के लिए अपने गुरु श्री राघवानन्द से प्रार्थना की। गुरुवर ने इन्हें योगचर्या तथा समाधि की शिक्षा दी और अपमृत्यु का समय समीप आने पर समाधिस्थ होकर बैठने को कहा, जिससे समाधि-अवस्था में मृत्यु इनका संस्पर्श नहीं कर पाई। तभी से ये रामदत्त (राम भारती) से स्वामी रामानन्द बन गए। पूर्ववर्ती रामानुजाचार्य की भाँति इन्होंने वि० सं० १५१५ तक १५६ वर्षीय सुदीर्घ जीवन जिया।

आचार्य राघवानन्द के सम्प्रदाय में जाति-पाँति, खान-पान, छुआ-छूत आदि के कठोर नियम पालनीय थे। तीर्थयात्रा के समय स्वामी रामानन्द इन नियमों का पालन जब नहीं कर पाए, तब आचार्य राघवानन्द ने इनसे प्रायश्चित्त करने को कहा, किन्तु इन्होंने– '**जाति पाँति पूछे नहि कोई, हरि को भजे सो हरि को होई**' कहकर प्रायश्चित्त करने से मना कर दिया। इसपर आचार्य ने इन्हें अपने सम्प्रदाय से बहिष्कृत कर दिया।

अब स्वामी रामानन्द ने नए रामावत (रामानन्द) सम्प्रदाय की स्थापना की, जिसमें जाट, क्षत्रिय, जुलाहा, चमार, नापित, ब्राह्मण आदि सभी को शामिल कर अपना शिष्य बनाया, जिनमें श्री पीपा, कबीर, रैदास (रविदास), नरसिंह महेता, पद्‌मावती, सुरसुरी आदि उल्लेखनीय हैं।

स्वामी रामानन्दाचार्य की तपःसाधना प्रधानतः मोक्षधाम काशी के पंचगंगा-तटवर्ती श्रीमठ में अनवरत चलती रही, किन्तु चित्रकूट प्रयाग, हरिद्वार, गागरौन, वृन्दावन, द्वारका, पुरी, गंगासागर आदि सुदीर्घ तीर्थयात्राओं में भगवन्नाम-स्मरण, भक्ति-

भावना पूर्ण उपदेशों से लोकजीवन की श्रद्धा, आस्था एवं सत्संस्कारों को सबल बनाकर प्रबल आशावादिता को अनुप्राणित करते रहे।

इनकी अलौकिक प्रतिभा से अभिभूत कुछ लोग इन्हें राम का अवतार तो कुछ लोग कपिल का एवं कुछ लोग सूर्यनारायण का अवतार मानते थे। इनका दिव्य दक्षिणावर्त शंख का अद्‌भुत नाद जन-जन के कर्ण-कुहरों में अन्तःकरण में अनुपम ओज, स्फूर्ति, अनुभूति और चेतना उत्पन्न करता था।

उपासना के क्षेत्र में स्वामीजी ने सगुण और निर्गुण में एकरूपता प्रतिपादित कर परस्पर भेद-भ्रान्ति को निर्मूल कर दिया। समकालीन सामाजिक पाखण्डों पर प्रहार कर लोकजीवन में अभिनव चेतना धार्मिक आस्था, भगवद्‌भक्ति एवं उपास्य के प्रति अटूट श्रद्धा की अभिवृद्धि की।

तत्कालीन अनेक आक्रान्ताओं और मुसलिम शासकों– तैमूर लंग, फीरोज शाह तुगलक आदि की धार्मिक असहिष्णुता, अत्याचार-परायणता, कट्टरता का अद्‌भुत रूप से सामना कर हिन्दूधर्म को संरक्षित कर सांस्कृतिक लोकजीवन को जीवन्त बनाए रखा।

स्वामी रामानन्दाचार्य समाज में व्याप्त अस्पृश्यता के निवारण में सशक्त सिद्ध हुए। वि० सं० १३८१ में जब पितृघाती जूना खाँ ने अयोध्या जीतकर अयोध्या नरेश श्री गजसिंह और उनकी प्रजा को बलात् मुसलिम बनाया, तब उच्च हिन्दू समाज इन्हें अस्पश्य और हेय दृष्टि से देखने लगा। धर्माचार्यों एवं पण्डितों ने पुनः हिन्दू बनाने से जब इनकार कर दिया, तब कृपालु स्वामीजी ने सं० १४३२ में समस्त अयोध्यावासियों सहित राजा गजसिंह को सरयू में सबको स्नान कराकर शंखनाद सहित 'श्रीराम मन्त्र' सुनाकर सामूहिक रूप से शुद्ध कर निर्भीकता से सभी को 'हिन्दू' बना लिया।

तैमूर लंग जैसे बर्बर विदेशी आक्रान्ता की घोर हिंसा, लूट-पाट, बलात्कार आदि से भारतीय जन-जीवन कराह रहा था। फीरोजशाह तुगलक की मृत्यु के बाद मल्लू इकबाल दिल्ली का अन्तरिम शासक सं० १४५४ में बनकर इन अत्याचारों को जब और बढ़ावा देने लगा, तब स्वामीजी के दक्षिणावर्त शंख की व्यापक अद्‌भुत ध्वनि से मुसलिम नमाजियों के कर्णरन्ध्र और कण्ठ अवरुद्ध हो गए। हफ्तों नमाज बन्द रही। आखिर में इबन्नूर और तकी के परामर्श पर कबीर के माध्यम से स्वामीजी का क्रोध शान्त हुआ और उनकी प्रसन्नता से पूर्ववत् मसजिदों में नमाज होने लगी, किन्तु आस्तिक हिन्दू जनता भय और आतंक से मुक्त हो गई।

स्वामी रामानन्द की यौगिक और आध्यात्मिक शक्तियों से अनेक समकालीन सूफी सन्त भी प्रभूत प्रभावित होकर अन्तःप्रकाश प्राप्त करते रहते थे, जिनमें सुप्रसिद्ध सन्त निजामुद्दीन औलिया, अमीर खुसरो आदि उल्लेखनीय हैं। अमीर खुसरो स्वयं श्री मठ-पंचगंगा पधारकर स्वामीजी के सान्निध्य में सत्संग-लाभ से कृतार्थ हुए थे।

सैयदवंश को सत्ताच्युत कर सं० १५०७ में बहलोल लोदी दिल्ली की गद्दी पर बैठा और जौनपुर के नबाब को पराजित करने के कुप्रयास में काशी स्थित आचार्य को उपेक्षित किया तो वह घोर शिरःशूल से स्वयं पीड़ित हो गया। तब स्वामीजी के पास कुछ उपाय हेतु उसने सैनिक भेजे। कृपालु स्वामी के शुभाशीर्वचन से उसकी पीड़ा स्वतः शान्त हो गई। स्वामी रामानन्दाचार्य का सारस्वत-वैभव भी अनुपम है।

उनकी कीर्तिकौमुदी के रूप में उनके निम्नलिखित ग्रन्थरत्न हैं–

(१) वैष्णवमताब्जभास्कर, (२) रामार्चन-पद्धति, (३) गीताभाष्य, (४) उपनिषद्‌भाष्य, (५)

आनन्दभाष्य, (६) सिद्धान्तपटल, (७) रामरक्षास्तोत्र, (८) योग चिन्तामणि, (९) श्री रामाराधनम्, (१०) वेदान्त विचार, (११) रामानन्दादेश, (१२) अध्यात्म-रामायण।

(वैष्णवमताब्जभास्कर एवं रामार्चनपद्धति के अतिरिक्त अन्य उपलब्ध ग्रन्थों के विषय में सभी विद्वान् एकमत नहीं हैं।

रामार्चनपद्धति का प्रकाशन हिन्दी अनुवाद के साथ महावीर मन्दिर प्रकाशन से हाल में ही हो चुका है। –सं०)

श्रीराम-नाम के अनन्य उपदेशक स्वामी रामानन्दाचार्य को श्री राम के ध्यानार्थ निम्नलिखित श्लोक अत्यन्त प्रिय था–

ध्यायेदाजानुबाहुं धृतशरधनुषं बद्धपद्मासनस्थम्,
पीतं वासो वसानं, नवकमलदल-स्पर्धिनेत्रं प्रसन्नम्।
वामांकारूढसीता मुख-कमलमिलल्लोचनं नीरदाभम्,
नानालंकारदीप्तं दधतमुरुजटामण्डलं रामचन्द्रम्।।

समासतः, सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन को अखण्डता और एकता से अद्भुत गतिदाता, धार्मिक और भक्तिभावना के अनुपम उन्नायक, राष्ट्रीय एवं जातीय स्वाभिमान-सम्मान के अनन्य संरक्षक, विधर्मियों के अत्याचार और अनाचार से दीन-दुखियों के परित्राता, निर्भीक समर्थ सन्त स्वामी रामानन्दाचार्य वस्तुतः विशिष्ट इतिहास-पुरुष हैं; अतः सर्वस्तवनीय और स्मरणीय हैं। अवन्तिकापुरी के सिंहस्थ कुम्भ के पावन पर्व पर श्री रामावत (रामानन्द) सम्प्रदाय द्वारा संयोजित 'साहित्य-संगोष्ठी' इन आचार्य शिरोमणि के प्रेरणाप्रद पुण्य स्मरण के साथ ही सम्पूर्ण लोकमंगल के लिए अवश्य होगी; ऐसा हमारा विश्वास है।

अन्ततः, आचार्य श्री स्वामी रामानन्द का सश्रद्ध स्मरण करते हुए उन्हें प्रणत प्रणामांजलि-श्रद्धांजलि समर्पित है–

वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्।
श्री रामानन्दो विजयतेतराम्।

शास्त्री नगर, अजीतमल (औरैया),
उत्तर प्रदेश।

* * *

पुकार मातृभूमि की

पुकार मातृभूमि की सुनो जगो जगा रही।
पुनः स्वरक्षणार्थ ही प्रयाणगीत गा रही।।

शिवा प्रताप बाल लाल पाल-कीर्तिकेतुओ!
समस्त दुःख-अब्धि-हेतु भव्य दिव्य सेतुओ!
स्वकर्मबोध दे सदा स्वकर्म में लगा रही।
पुनः स्वरक्षणार्थ ही प्रयाणगीत गा रही।।

पसार आँख देख लो न सुप्तिकाल है अभी,
बनो न आलसी चलो सुवीर रुद्र हो सभी,
अतीत की कहानियाँ जवानियाँ लुटा रहीं।
पुनः स्वरक्षणार्थ ही प्रयाणगीत गा रही।।

कुकर्ममग्न लोग हैं कभी न लाज आ रही,
सुबन्धुभावना-लता गले न है लगा रही,
मनुष्य को मनुष्यता महान शत्रु पा रही।
पुनः स्वरक्षणार्थ ही प्रयाणगीत गा रही।।

गढ़ो नया समाज स्वच्छ विश्व शान्तिपूत हो,
समग्र मान्य पन्थ का सुविज्ञ अग्रदूत हो,
चलो निदाघ-सीख ले गभस्तियाँ सिखा रहीं।
पुनः स्वरक्षणार्थ ही प्रयाणगीत गा रही।।

न काम गोप्रवृत्ति की मृगेन्द्रवृत्ति ही गहो,
भविष्य से कहो कि जागरूकता लिये रहो,
यही सुधर्म आज का सुनीतियाँ पढ़ा रहीं,
पुनः स्वरक्षणार्थ ही प्रयाणगीत गा रही।।

– मार्कण्डेय शारदेय

वैदिक संस्कृति : भारत की शाश्वत राष्ट्रीयता

ब्रजनन्दन प्रसाद सिंह

मानव जाति में दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ होती हैं– अन्तर्मुखी प्रवृत्ति और बहिर्मुखी प्रवृत्ति। समाज और राष्ट्र की सामूहिक प्रवृत्ति ही संस्कृति है। इस दृष्टि से संसार में मुख्यतः दो ही प्रकार की संस्कृतियाँ हैं– भारत की अन्तर्मुखी वैदिक संस्कृति और पाश्चात्य जगत् की बहिर्मुखी संस्कृति। वैदिक संस्कृति अन्तर्मुखी है, अतः वह अन्तर्वृत्तियों के उत्कर्ष पर जोर देती है; क्योंकि त्याग, आत्मनियन्त्रण और आत्मशुद्धि के बिना समाज के घटकों में सच्चे सामाजिक कल्याण की भावना नहीं उत्पन्न हो सकती। यह आत्मसुधार को समाजसुधार का मूलाधार मानती है। अतः यह त्यागोन्मुखी संस्कृति है।

अपने लचीलेपन के कारण अमर बनी उदार भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता रही है कि कितने बाहरी आए और इसी का हो गए। दूध में बतासे की तरह बाहर से आनेवाले घुलकर एक हो गए। आज पश्चिमी हवा के प्रभाव से जो यहाँ कुत्सित प्रवृत्तियाँ पनपी हैं, उनपर चोट करते हुए सुधी लेखक ने भारतीय क्रोशशिलाओं की याद दिलाते हुए भटके राहगीरों को सावधान किया है। –सं०

जलते दीप से दीप जलता है, चरित्र से चरित्र बनता है। एक जलता दीप हजारों दीपों को जला सकता है, परन्तु हजारों बुझे दीप एक दीप को भी नहीं जला सकते। व्यक्ति का समूह ही समाज, राष्ट्र और विश्व है, अतः यदि प्रत्येक व्यक्ति आत्मसुधार करे तो सारे समाज और राष्ट्र का स्वतः सुधार हो जाए। अन्तर्मुखी होकर आत्मनिरीक्षण द्वारा अपने गुण-अवगुण को समझकर अपने अवगुणों को दूर करना आत्मसुधार है, आत्मविकास है। जो लोग आत्मसुधार किए बिना धर्मगुरु, नेता और राजनेता बनते हैं, वे ढोंगी हैं, बुझे दीप हैं। ये लोग लोकसेवा के नाम पर स्वार्थ साधते हैं।

वैदिक संस्कृति में समाज का नियन्त्रण राजा के हाथ में नहीं, बल्कि त्यागी और तपस्वी धर्माचार्यों के हाथों में था। ये धर्माचार्य 'सादा जीवन उच्च विचार' के आदर्श पर चलते थे। अतः इन्हें राज्यसत्ता के प्रश्रय की आवश्यकता नहीं थी।

त्यागी और सदाचारी व्यक्ति धीर पुरुष होता है, भर्तृहरि ने नीतिशतक (८४) में धीर मनुष्य का लक्षण इस प्रकार कहा है–

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।।

अर्थात् धीर व्यक्ति न्यायोचित्त पथ से एक डेग भी विचलित नहीं होता। चाहे कोई उसकी प्रशंसा करे या निन्दा, चाहे सम्पत्ति आए और चली जाए, चाहे आज ही मृत्यु हो जाए अथवा दूसरे युग में हो।

पहले अपने अन्तःकरण को पवित्र करो। तब उस पवित्र अन्तःकरण को जगत् के हित में लगाओ। आत्मानुभव और आत्मदर्शन में लगाओ। यही वैदिक संस्कृति की अमरवाणी है।

संसार की सारी समस्याओं की जड़, मानव के अन्तःकरण-स्थित स्वार्थ है। स्वार्थ मनुष्य की सहज प्रवृत्ति है, अतः उसका उन्मूलन नहीं, वरन् शोधन होता है। जिस प्रकार बीज अपने सीमित कलेवर से बाहर निकलने पर वृक्ष बनकर फूल-फल देता है, उसी प्रकार जब स्वार्थ व्यक्तिगत और पारिवारिक परिधि से बाहर होकर सामूहिक रूप धारण करता है, तब वह स्वार्थ परमार्थ में परिणत होता है। जिस प्रकार रँगनेवाले का हाथ रंगीन होता है, उसी प्रकार परमार्थी का स्वार्थ भी सध जाता है।

स्वार्थ का परमार्थ में परिणत होना आचारक्रान्ति है। आचारक्रान्ति स्वार्थ का उन्मूलक नहीं, वरन् शोधक है। वैज्ञानिक क्रान्ति उपभोग्य वस्तुओं का अम्बार लगा सकती है, परन्तु आचार क्रान्ति के बिना लोग उससे लाभान्वित नहीं हो सकते। राजनीतिक क्रान्ति स्वार्थ का शोधन नहीं करती। अतः इससे कल का सम्पन्न आज का विपन्न बनता है और कल का विपन्न आज का सम्पन्न बनता है। परन्तु सम्पन्न और विपन्न वर्ग नहीं मिटते। अतः राजनीतिक क्रान्ति मात्र सत्ता और सम्पत्ति की हेरा-फेरी का व्यापार है।

पाश्चात्य भोगवादी संस्कृति मनुष्य को स्वार्थी बनाती है। त्यागी वैदिक संस्कृति मनुष्य को परमार्थी बनाती है। पाश्चात्य भोगवादी संस्कृति भौतिक राज्य और भोग्य वस्तु को आदर्श मानती है। वैदिक संस्कृति मनोमय राज्य और भोक्ता को प्रमुख मानती है। यही कारण है कि जहाँ पाश्चात्य देशों ने भूमि-विस्तार और सम्पत्ति एकत्रित करने के लिए भारत पर आक्रमण किया, वहाँ भारत ने किसी भी देश पर आक्रमण नहीं किया।

जन-समुदाय, भौगोलिक क्षेत्र, शासनतन्त्र और संस्कृति राष्ट्र के चार अवयव हैं। इनमें से जन-समुदाय, भौगोलिक क्षेत्र और शासनतन्त्र राष्ट्र के शरीर हैं और संस्कृति राष्ट्र की आत्मा है। जिस प्रकार आयु-परिवर्तन के साथ-साथ शारीरिक परिवर्तन होने पर या दुर्घटना से विकलांग होने पर तो मनुष्य जीवित रहता है, परन्तु आत्मा के अलग होने पर वह शरीर रहते हुए मृतक हो जाता है। उसी प्रकार भौगोलिक क्षेत्र, जनसंख्या और शासन तन्त्र में परिवर्तन होने पर तो राष्ट्र जीवित रहता है, परन्तु संस्कृति को खोने पर वह मृतक हो जाता है।

संस्कृति के अवयव हैं– धर्म, दर्शन, साहित्य, इतिहास, भाषा, पर्व-त्योहार एवं सामाजिक रीति-रिवाज। अतः राष्ट्र के मृतक होने का तात्पर्य है राष्ट्र की संस्कृति में परिवर्तन होना। इतिहास साक्षी है कि भारत पर हजारों वर्षों तक विदेशी आक्रमण होते रहे तथा यह छोटे-छोटे राज्यों में बँटा रहा, परन्तु अपनी कालजयी वैदिक संस्कृति को अक्षुण्ण रखने के कारण यह राजनीतिक दृष्टि से खण्डित होकर भी सांस्कृतिक दृष्टि से एक राष्ट्र बना रहा। संसार के अन्य प्राचीन देश यूनान, रोम, मिस्र और बेबीलोन अपनी संस्कृतियों को खोने के कारण मृतक हो गए। आज वहाँ की प्राचीन संस्कृति के दर्शन उनके मन्दिर, स्तूप और संग्रहालय में भले हों, परन्तु वहाँ की जनता के आचार-विचार और सामाजिक रीति-रिवाज में वहाँ की प्राचीन संस्कृति का दर्शन होना दुर्लभ है।

वैदिक संस्कृति के लोगों ने 'सादा जीवन उच्च विचार' के आदर्श पर चलने के कारण अपनी आवश्यकताओं को सीमित रखा। न्यूनतम आवश्यकताओं के कारण इनके जीवन का अधिकांश क्षेत्र राज्यसत्ता से अलग रहा। इसलिए वैदिक संस्कृति के लोगों पर राजनीतिक उथल-पुथल का प्रभाव नहीं पड़ा। पाश्चात्य भोगवादी संस्कृति की आवश्यकताएँ निरन्तर बढ़ती गईं, अतः उनके जीवन के अधिकांश भाग राज्यसत्ता पर निर्भर हो गए।

त्यागी वैदिक संस्कृति का आदर्श है– सादा जीवन उच्च विचार। पाश्चात्य भोगवादी संस्कृति

का आदर्श है– विलासी जीवन बौना विचार। भोग को आदर्श मानकर जो उन्नति होती है, वह प्रतियोगिता और संघर्ष के अन्तराल में होती है। समाज के जो लोग छल-छद्म में पारंगत होते हैं, वे ही इस संघर्ष में सफल होते हैं। जो लोग इस संघर्ष में सफल नहीं होते, वे भोग्य वस्तुओं से वंचित रहते हैं। अतः शोषक-शोषित और सर्वहारा वर्ग राजनीति की नहीं, वरन् भोगवादी संस्कृति की देन हैं।

मार्क्स ने राजनीतिक व्यवस्था से वर्ग मिटाने की कोशिश की, अतः मार्क्सवादी दर्शन सफल नहीं हो सका। स्वतन्त्रता के बाद भारतीय राजनीति ने पाश्चात्य भोगवाद से प्रभावित होकर 'सादा जीवन उच्च विचार' की जगह लोगों का जीवनस्तर उन्नत करने अर्थात् जनजीवन को विलासी बनाने का निर्णय लिया। अतः जनजीवन की आवश्यकताएँ निरन्तर बढ़ती गईं और लोगों ने अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भ्रष्टाचार का सहारा लिया।

भ्रष्टाचार की जननी पाश्चात्य भोगवादी संस्कृति की राजनीति है। वह विज्ञान के सहारे गेहूँ का अम्बार लग सकती है, परन्तु आपस में रोटी बाँटकर खाने की कला त्यागी वैदिक संस्कृति ही सिखा सकती है, राजनीति नहीं।

आज से हजारों वर्ष पूर्व के ग्रन्थ श्रीमद्भागवत पुराण (७.१४.८) में मार्क्सवादी दर्शन का स्वरूप दिखाई पड़ता है–

यावद् भ्रियेत गठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्यते स स्तेनो दण्डमर्हति।।

अर्थात् जितने धन से मनुष्य की उदरपूर्ति होती है, उतने ही धन पर उसका स्वत्व (अधिकार) है। जो इससे अधिक धनसंचय करता है, वह चोर है, दण्डनीय है।

राजनीति (शासनतन्त्र) मनुष्य की रक्षा भले करे, परन्तु मनुष्यता की रक्षा त्यागी वैदिक संस्कृति ही कर सकती है। प्लेटो ने कहा है– "जो मनुष्य अपने देश की संस्कृति के प्रति घृणा उत्पन्न करता है, उससे बढ़कर पापी दूसरा कोई नहीं; ऐसे मनुष्य का मर जाना ही श्रेयस्कर है।"

(कल्याण, हिन्दू संस्कृति विशेषांक १९५० ई० पृ-१४० से उद्धृत)।

ब्रिटिश राज्य के समय सन् १८३५ ई० में कलकत्ता के बन्दरगाह में एक जहाज बिलायती माल लेकर आया। उसमें सुई से लेकर औषध तक व्यवहार योग्य वस्तुएँ विक्री के लिए आई थीं। उस समय भारत की जनता अँगरेजी वस्तुओं को अस्पृश्य मानती थी, अतः उस जहाज पर के माल की विक्री नहीं हुई और वह जहाज सारे माल के साथ पुनः ब्रिटेन वापस चला गया। उस समय लार्ड मैकाले था। उसने समझ लिया कि जब तक भारतीयों की संस्कृति विकृत नहीं होगी, तब तक भारत में बिलायती माल नहीं बिकेगा।

भाषा संस्कृति का मुख्य अंग है। अतः मैकाले ने भारतीय संस्कृति को विकृत करने के लिए भारत में अँगरेजी शिक्षा की नींव डाली। उसने कहा कि अँगरेजी शिक्षा से भारत में एक ऐसी जाति पैदा होगी, जिसका रंग और रक्त भारतीय होगा, परन्तु शिक्षा और रुचि में वह अँगरेज हो जाएगी। सन् १८५७ ई० का प्रथम स्वतन्त्रता-आन्दोलन राजनीतिक नहीं, वरन् सांस्कृतिक बोध (जातीय आचार-विचार) के कारण हुआ था। इसीलिए इस विद्रोह के बाद १८५८ ई० में पहली नवम्बर को महारानी विक्टोरिया ने जो घोषणापत्र प्रकाशित किया, उसमें उसने वादा किया कि अब हिन्दू-संस्कृति (वैदिक संस्कृति) के विषय में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया जाएगा। भारतीय जनता में संस्कृति को अक्षुण्ण रखने के कारण ही राष्ट्र के पराधीन होने पर भी स्वाधीनता का भाव उत्पन्न हुआ और वह अँगरेजी शासन से मुक्त होने के लिए स्वतन्त्रता-आन्दोलन में सक्रिय हुई। अतः सांस्कृतिक राष्ट्रीयता राजनीतिक राष्ट्रीयता से सबल है।

राजनीतिक राष्ट्रवाद राष्ट्र को केवल मातृभूमि मानता है, परन्तु सांस्कृतिक राष्ट्रवाद राष्ट्र को मातृ-

भूमि के साथ-साथ पुण्य भूमि मानता है। पुण्य भूमि मानने का अर्थ है– अपने राष्ट्र के प्राचीन महापुरुषों और धर्मस्थलों के प्रति श्रद्धा रखना। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद भावनात्मक राष्ट्रवाद है, अतः यह अडिग रहता है। राजनीतिक राष्ट्रवाद बुद्धिमान् है, अतः यह अडिग नहीं रहता।

कल्पना करें कि भारत को किसी ऐसे राष्ट्र से युद्ध हो, जहाँ के महापुरुषों और तीर्थों के प्रति श्रद्धा रखनेवाले लोग भारत में रहते हों। ऐसे युद्ध के समय भारत को पुण्य भूमि माननेवालों की राष्ट्रीय भावना तो अक्षुण्ण रहेगी, परन्तु शत्रु देश के पूर्व महापुरुषों और तीर्थों के प्रति श्रद्धा रखनेवाले भारतीय लोगों की राष्ट्रीय भावना में दरार अवश्य पड़ेगी। राष्ट्र को मातृभूमि के साथ-साथ पुण्य भूमि माननेवाला, चाहे वह हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, सिक्ख अथवा कोई अन्य जाति या सम्प्रदाय का व्यक्ति हो, वह राष्ट्रवादी है। वैदिक संस्कृति का उद्घोष है– '**वसुधैव कुटुम्बकम**', अतः यह राष्ट्रवादी के साथ-साथ विश्वप्रेमी है, विश्ववादी है।

पाश्चात्य मनीषी जेम्स कजिन्स ने कहा है– "भारत की आदर्श अमर संस्कृति, जिसने अनेक साम्राज्यों का उत्थान-पतन देखा है, समस्त मानव जाति के लिए उपयोगी है। अपनी घातक सभ्यता से दुःखी होकर पाश्चात्य जगत् आज भारत की ओर देख रहा है।"

स्वतन्त्रता तीन प्रकार की होती है– भौमिक, प्रशासनिक और आत्मिक। भौमिक और प्रशासनिक स्वतन्त्रता की वाहिका राजनीति है। आत्मिक स्वतन्त्रता की वाहिका संस्कृति है। जिस राष्ट्र में जनता को ये तीनों स्वतन्त्रताएँ प्राप्त हों, वही पूर्ण स्वतन्त्र राष्ट्र है। आज भारत और विश्व में जो अशान्ति है, उसकी जननी पाश्चात्य भोगवादी संस्कृति है, अतः जब तक त्यागी वैदिक संस्कृति का आदर्श 'सादा जीवन उच्च विचार' को नहीं अपनाया जाएगा, तब विश्व में शान्ति नहीं स्थापित होगी। वैदिक संस्कृति भारत की शास्वत राष्ट्रीयता है, अतः जब तक यह मैजूद रहेगी, तब तक भारत की स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रहेगी। इसीलिए कवि इकबाल ने कहा– "**कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।**"

आज भारत की सत्ताभोगी राजनीति भ्रष्टाचार, जातिवाद और सम्प्रदायवाद के सन्निपात से ग्रस्त है। देर या सवेर कालजयी और रत्नगर्भा वैदिक संस्कृति के मन्थन से ही वह अमृत प्राप्त होगा, जो सन्निपातग्रस्त भारतीय राजनीति को स्वस्थ बनाएगा।

अतः सांस्कृतिक क्रान्ति की वेला है, शेष क्रान्ति बावेला है।

डी-६६ / पी० सी० कालोनी,
लोहियानगर, पटना-२०

सत्कर्म-महिमा

या साधूंश्च खलान् करोति विदुषो मूर्खान् हितान् द्वेषिणः,
प्रत्यक्षं कुरुते परोक्षममृतं हालाहलं तत्क्षणात्।
तामाराधय सत्क्रियां भगवतीं भोक्तुं फलं वाञ्छितं
हे साधो! व्यसनैर्गुणेषु विपुलेष्वास्थां वृथा मा कृथाः।।

हे सज्जन! तुम यदि मनोवांछित फल चाहते हो तो बहुत से गुणों के प्रति आस्था मत रखो, एक मात्र ऐश्वर्यशाली सत्कर्म का सेवन करो। कारण यह है कि यह (सत्कर्म) दुष्टों को सज्जन, मूर्खों को पण्डित, विद्वेषियों को हितैषी, परोक्ष को प्रत्यक्ष और विष को तत्काल अमृत बना देनेवाला है।

– *भर्तृहरि*

सामयिक धरोहर

पुरुषोत्तममास-विधान

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

मृगमद-मुद्रित-चारु-कपोलम्।
मृग-मद-मोन-लोचन-लोलम्।।
मृगमदमेचक-सुन्दर-रूपम्।
नौमि हरिं वृन्दावन-भूपम्।।१।।

दोहा

श्री पुरुषोत्तम-राधिका चरण-शरण रहु आय।
कटि जैहैं भवभोग भय, रोग कुसोग बलाय।।१।।
जिन पुरुषोत्तम नाम सुभ, सहस कहे रचि गाय।
सो पुरुषोत्तम बदन बपु, वल्लभ होहु सहाय।।२।।
पुरुषोत्तम-पद जुग सुमिरि, धरि हिय परम अनन्द।
पुरुषोत्तम की विधि लिखी, पुरुषाधम हरिचन्द।।३।।

एक समय अनेक देवर्षि, राजर्षि, शिष्य, प्रशिष्य समेत लोकोपकारशील स्वयं तीर्थरूप तीर्थपाद चरणारविन्द मधुव्रत तीर्थ यात्रा के मिस नैमिषक्षेत्र में एकत्र हुए और वहाँ महाभागवत सूत पौराणिक भी आए। सूतजी से ऋषियों ने इस असार संसार के पार जाने का उपाय और श्रीकृष्ण की लीला का प्रश्न किया। सूतजी बोले– मैं अनेक तीर्थों में भ्रमण करता हुआ श्रीगंगाजी के किनारे भगवान् श्री शुकदेव जी के मुखारविन्द से श्री मद्भागवत रूपी मधुर सुधारस का पान करके आया हूँ, जो आज्ञा हो वह कथा आप लोगों को सुनाऊँ। ऋषियों ने कहा सहज उपाय से भगवत्-प्राप्ति का जो साधन हो वह कहिए। सूतजी बोले– एक दिन भगवान् नारद जी चारों ओर घूमते हुए बद्रिकाश्रम में भगवान् नारायण के पास गए और यही प्रश्न किया कि भगवन्! कलियुग के जीवों को स्वल्प साधन में भगवान् की प्राप्ति का उपाय कहिए। यह सुनकर भगवान् नारायण ने पुरुषोत्तम मास का माहात्म्य कहा।

सूर्य और चन्द्रमा की गति में भिन्नता के कारण एक युग में सौरमास एवं चान्द्रमास की संख्या में बहुत अन्तर होता है। एक युग में सौरमासों की संख्या ४३२०००० × १२ = ५१८४०००० होते हैं किन्तु चान्द्रमासों की संख्या ५३४३३३३६ होते हैं। इन दोनों का अन्तर १५९३३३३६ है,इसलिए एक युग में इतने ही अधिकमास होते हैं। इस प्रकार ३२ मास १६ दिनों के बाद एक मास मलमास या अधिकमास कहलाता है। वेद ने भी इसका उल्लेख १३ वें मास के रूप में किया गया है। **वेद मासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः। वेदाय उपजायते।।** (ऋ० : १.२५.८)। **अहोरात्रैर्विमितं त्रिंशदङ्गं त्रयोदशं मासं यो निर्मिमीते** (अथर्व० : १३.३.८)। सनातन धर्म में इसे पुरुषोत्तम मास भी कहा गया है। –सं०

पाण्डवों को वन में अत्यन्त क्लेशित देखकर उनका दुःख से छूटने हेतु भगवान् श्री कृष्णचन्द्र ने पुरुषोत्तम महात्म्य सुनाया। सब मासों के एक-एक देवता नियत हैं, इससे जब पहले मलमास पड़ा तब उसका कोई देवता नहीं था और इस कारण लोग उसकी निन्दा करते थे। मलमास इस बात से अत्यन्त दुःखी होकर भगवान् के पास गया

और भगवान् वैकुण्ठनाथ उसको लेकर गोलोक में गए। पूर्ण परब्रह्म सच्चिदानन्द घन भगवान् श्री कृष्णचन्द्र मलमास का दुःख सुनकर बोले– मैं पुरुषोत्तम तेरा स्वामी हूँ एतएव तेरा नाम आज से पुरुषोत्तम मास होगा और सब मासों में तेरा फल विशेष होगा। जो साधन लोग कार्तिकादि पुण्य मासों से अनेक वर्ष में भी करके फल न पावेंगे, वह पुरुषोत्तम मास के थोड़े साधन में फल पावेंगे।

भगवान् श्रीकृष्ण धर्मराज जी से कहते हैं कि पूर्व जन्म में जब द्रौपदी मेधावी ऋषि की कन्या थी तब दुर्वासा ऋषि ने इसे पुरुषोत्तम मास का व्रत करने को कहा था परन्तु स्त्री-बुद्धि से इसने पुरुषोत्तम मास का अनादर किया और शिवजी का व्रत करके पाँच बेर पति माँगकर तुम पाँचों को पति पाया, परन्तु पुरुषोत्तम के अनादर से बारहवर्ष की विपत्ति भोगनी पड़ी। सो तीन महीने पीछे पुरुषोत्तम मास आनेवाला है, सो इसमें तुम लोग अवश्य व्रत करना।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र की आज्ञानुसार पाण्डवों ने पुरुषोत्तम मास का व्रत किया और विपत्ति से छूटकर भगवान् की कृपा से उत्तरोत्तर अनेक शुभफल पाया।

नारद जी से भगवान् नारायण बोले– "पूर्व काल में सत्ययुग में हैहय देश का राजा दृढ़धन्वा था। पुष्करावर्त्त नगर उसकी राजधानी थी और विदर्भ नगर के राजा की कन्या गुणसुन्दरी उसकी रानी थी। चारुमती कन्या और चित्रवाक्, चित्रबाहु, मणिमान् और चित्रकुण्डल यह चार पुत्र थे। इस राजा का पुण्य प्रताप ऐश्वर्य सब महान् अखण्डित था। एक दिन राजा को अकस्मात् चिन्ता हुई कि किस पुण्य से हमको ऐसा अखण्ड ऐश्वर्य मिला। इसी चिन्ता में राजा शिकार खेलता हुआ एक मृग के पीछे गहन वन में घुस गया और एक वृक्ष के नीचे थककर विश्राम करने लगा, तो वहाँ एक सुग्गे को यह पढ़ते हुए सुना–

पाय जगत में सकल सुख, करत न तत्व विचार।
असत विषय भूल्यो फिरत किमि लहिहै भव पार।।३।।

सुग्गे को मनुष्य की बोली बोलते और परम तत्त्व के पूर्वोक्त वाक्य को पढ़ते सुनकर राजा को अत्यन्त आश्चर्य और मोह हुआ। यहाँ तक कि घर आकर काम काज छोड़कर रात दिन उसी सुग्गे का वाक्य सोचने लगा। एक दिन भगवान् वाल्मीकि इस राजा के घर पर आए और राजा ने बड़ी नम्रता से सुग्गे के वाक्य का आशय पूछा। वाल्मीकि जी ध्यान करके बोले– पूर्व जन्म में आप ताम्रपर्णी के निकट सुदेव नामक ब्राह्मण थे। अपनी स्त्री गौतमी सहित पुत्र के हेतु आपने भगवान् की बड़ी तपस्या किया। यद्यपि सुदेव के सात जन्म में भी पुत्र नहीं लिखा था तथापि भगवान् के वाक्य से गरुड़जी ने सुदेव को पुत्र का वरदान दिया। सुदेव ने शुकदेव नामक एक सर्वगुण सम्पन्न पुत्र पाया परन्तु देवल ऋषि के कहे हुए फल के अनुसार बारह वर्ष की अवस्था में वह बावली में डूब कर मर गया। सुदेव पुत्र-शोक से अत्यन्त व्याकुल होकर रोने लगा और यहाँ तक कि संयोग से उस समय आया हुआ पुरुषोत्तम मास उसने बिना अन्न जल के बिता दिया। इस व्रत से भगवान् प्रसन्न होकर प्रगट हुए और कहा कि तुमने हठ करके पुत्र का वरदान लिया था। इससे धनुश्शर्मा ब्राह्मण की भाँति अन्त में दुःख पाया। अब तुम्हारा पुत्र जी जाएगा और तुम बारह हजार वर्ष पुत्र सहित इस शरीर में रहकर अन्त में सुधन्वा नामक राजा होगे और चार पुत्र, एक कन्या और राज्य का अखण्ड ऐश्वर्य पाओगे। सो उसी पुण्य से आपने यह राज्य और ऐश्वर्य पाया है।

वह सुग्गा आपका पूर्व जन्म का शुकदेव नामक पुत्र था, जो आप को राज-काज में मग्न देखकर आपके हित के हेतु सुग्गे के रूप में आपको चेतावनी का शुभ वाक्य सुना गया।

वाल्मीकि जी से अपने पूर्व जन्म का चरित्र और पुरुषोत्तम का विचित्र माहात्म्य सुनकर सुधन्वा ने उनसे पुरुषोत्त मास की विधि पूछी। ऋषि बोले– पुरुषोत्तम मास में ब्राह्म मुहूर्त में उठकर शौच करके और दन्तधावन करके तीर्थ में स्नान करे फिर गोपी चन्दन का ऊर्ध्व पुण्ड और शैव हो तो त्रिपुण्ड तिलक लगाकर भुजापर शंख चक्र का चिन्ह लगाकर संध्या करे। फिर पवित्र स्थान में चावल का अष्ट दल बनाकर उस पर सोने, चाँदी, तामे, पीतल वा मिट्टी का कलश रक्खे, कलश में इन मन्त्रों से जल भरे–

कलशस्य मुखे विष्णुः कण्ठे रुद्रः समास्थितः।
मूले तत्र स्थितो ब्रह्मा मध्ये मातृगणाः स्मृताः।।
कुक्षौ तु सागराः सर्व्वे सप्तद्वीपा वसुन्धरा।
ऋग्वेदोऽथ यजुर्वेदस्सामवेदो ह्यथर्वणः।
अंगैस्तु सहिताः सर्वे कलशं हि समाश्रिताः।।
गंगा गोदावरी चैव कावेरी च सरस्वती।।
आयान्तु मम शांत्यर्थम् दुरितक्षयकारकाः।।

इस मन्त्र से कलश की प्रतिष्ठा करके, कलश का पूजन करके एक तंदुल पूर्णपात्र कलश के ऊपर रक्खे। उस पर पीला कपड़ा बिछा कर श्री राधिका सहित भगवान् की सोने की मूर्ति स्थापन करके पुरुषोत्तम बीज और नीचे लिखे हुए मन्त्रों से प्राणप्रतिष्ठा करे।

ॐ तद्विष्णोःश्रीः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुराततं स्वाहा।

ॐ अस्यै प्राणाः प्रतिष्ठन्तु अस्यै प्राणाःक्षरन्तु च अस्यै देवत्व संख्यायै स्वाहा।

जो वेद मन्त्र का अधिकार न हो तो श्री राधिकासहितपुरुषोत्तमाय नमः स्वाहा– इस मन्त्र से प्राणप्रतिष्ठा करके नीचे लिखी हुई विधि से पूजा करे।

आगच्छ देव देवेश श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम।
राधया सहितश्चात्र गृहाण पूजनं मम।।१।।

श्रीराधिकासहितपुरुषोत्तमाय नमः आवाहनं समर्पयामि इत्यावाहनम्।

नानारत्नसमायुक्तं कार्तस्वरविभूषितम्।
आसनं देव देवेश गृहाण पुरुषोत्तम।।२।।
श्रीराधायाः आसनम्।
गंगादिसर्वतीर्थेभ्यो मया प्रार्थनयाहृतम्।
तोयमेतत्सुखस्पर्शं पाद्यार्थं प्रतिगृह्यताम्।।३।।
इति पाद्यम्।
नन्दगोपगृहे जातो गोपिकानन्दहेतवे।
गृहाणार्घ्यं मया दत्तं राधया सहितो हरे।।४।।
इत्यर्घ्यम्।
गंगाजलं समानीतं सुवर्णकलशस्थितम्।
आचम्यतां हृषीकेश पुराणपुरुषोत्तम।।५।।
इत्याचमनम्।
कार्यं सिद्धिमायातु पूजिते त्वयि धातरि।
पञ्चामृतैर्मया नीतै राधिकासहितो हरे।।६।।
इति स्नानम्।
पयो दधि घृतं गव्यं माक्षिकं शर्करा तथा।
गृहाणेमानि द्रव्याणि राधिकानन्ददायक।।७।।
इति पंचामृतस्नानम्।
योगेश्वराय देवाय गोवर्द्धनधराय च।
यज्ञानां पतये नाथ गोविन्दाय नमो नमः।।८।।
गंगाजलसमं शीतं नन्दितीर्थसमुद्भवम्।
स्नानं दत्तं मया कृष्ण गृह्यतां नन्दनन्दन।।९।।
इति पुनः स्नानम्।
पीताम्बरयुगं देवसर्वकामार्थसिद्धये।
मया निवेदितं भक्त्या गृहाण सुरसत्तम।।१०।।
इति वस्त्रम् आचमनञ्च।
दामोदर नमस्तेस्तु त्राहि मां भवसागरात्।
ब्रह्मसूत्रं सोत्तरीयं गृहाण पुरुषोत्तम।।११।।
उपवीतम् आचमनम्।
श्रीखण्डचन्दनं दिव्यं गन्दाढ्यं सुमनोहरम्।
विलेपनं सुरश्रेष्ठ प्रीत्यर्थं प्रतिगृह्यताम्।।१२।।
इति चन्दनम्।

अक्षतास्तु सुरश्रेष्ठ कुंकुमाक्ताः सुशोभिताः।
मया निवेदिता भक्त्या गृहाण पुरुषोत्तम।।१३।।

इत्यक्षतान्।

माल्यादीनि सुगन्धीनि मालत्यादीनि वै प्रभो।
मया हृतानि पूजार्थं पुष्पाणि प्रतिगृह्यताम्।।१४।।

इति पुष्पाणि।

ततोङ्ग पूजा

नन्दात्मजो यशोदायास्तनयः केशिसूदनः।
भूभारोत्तारकश्चैव ह्यनन्तो विष्णुरूपधृक्।।१५।।
प्रद्युम्नश्चानिरुद्धश्च श्रीकण्ठः सकलास्त्रधृक्।
वाचस्पतिः केशवश्च सर्वात्मेति च नामतः।।१६।।
पादौ गुल्फौ तथा जानू जघने च कटी यथा।
मेढ्रं नाभिं च हृदयं कण्ठे बाहू मुखं तथा।।१७।।
नेत्रे शिरश्च सर्वाङ्गं विश्वरूपिणमर्चयेत्।
पुष्पाण्यादायक्रमशश्चतुर्थ्यंतैर्जगत्पतिम्।।१८।।
प्रत्यंगपूजां कृत्वा तु पुनश्च केशवादिभिः।
चतुर्विंशतिमन्त्रैश्च चतुर्थ्यंतैश्च नामभिः।।१६।।
पुष्पमादाय प्रत्येकं पूजयेत् पुरुषोत्तमम्।।२०।।
वनस्पतिरसो दिव्यो गन्धाढ्यो गन्ध उत्तमः।
आघ्रेयः सर्वदेवानां धूपोऽयं प्रतिगृह्यताम्।।२१।।

इति धूपम्।

त्वं ज्योतिः सर्वदेवानां तेजसां तेज उत्तमम्।
आत्मज्योतिः परं धाम दीपोऽयं प्रतिगृह्यताम्।।२२।।

इति दीपम्।

नैवेद्यं गृह्यतां देव भक्तिं मे ह्यचलां कुरु।
ईप्सितं मे वरं देहि परत्र च परां गतिम्।।२३।।

इति नैवेद्यम्।मध्यपानीयम् उत्तरापोशनञ्च।

गंगाजलं समानीतं सुवर्णकलशस्थितम्।
आचम्यतां हृषीकेश त्रैलोक्यव्याधिनाशन।।२४।।

इत्याचमनम्।

इदं फलं मया देव स्थापितं पुरतस्तव।
तेन मे सफलावाप्तिर्भवेज्जन्मनि जन्मनि।।२५।।

इति श्रीफलम्।

गंधकर्पूरसंयुक्तं कस्तूर्यादिसुवासितम्।
करोद्वर्तनकं देव गृहाण परमेश्वर।।२६।।

इति करोद्वर्तनम्।

पूगीफलसमायुक्तं सकर्पूरं मनोहरम्।
भक्त्या दत्तं मया देव ताम्बूलं प्रतिगृह्यताम्।।२७।।

इति ताम्बूलम्।

हिरण्यगर्भगर्भस्थं हेमबीजं विभावसोः।
अनन्तपुण्यफलदमतः शान्तिं प्रयच्छ मे।।२८।।

इति दक्षिणाम्।

शारदेन्दीवरश्यामं त्रिभंगललिताकृतिम्
नीराजयामि देवेशं राधयासहितं हरिम्।।२६।।

इति नीराजनम्।

रक्ष रक्ष जगन्नाथ रक्ष त्रैलोक्यनायक।
भक्तानुग्रहकर्त्ता त्वं गृहाणास्मत् प्रदक्षिणाम्।।३०।।

इति प्रदक्षिणां

यज्ञेश्वराय देवाय तथा यज्ञोद्भवाय च।
यज्ञानां पतयेनाथ गोविन्दाय नमोनमः।।३१।।

इति मन्त्रपुष्पम्।

विश्वेश्वराय विश्वाय तथा विश्वोद्भवाय च।
विश्वस्य पतये तुभ्यं गोविन्दाय नमो नमः।।३२।।

इति नमस्कारान्।

मन्त्रहीनेति मन्त्रेण क्षमाप्य पुरुषोत्तमम्।
स्वाहान्तैर्नाममन्त्रैश्च तिलहोमो दिने दिने।।३३।।

इति

पूजन करके हविष्यान्न भोजन करे। मांस, मद्य और मादक वस्तु, द्विदल, तैल पक्व बड़ी, उरद, मसूर इत्यादि वस्तु न खाय। भाव-दुष्ट, क्रिया-दुष्ट और शब्द-दुष्ट वस्तु का वर्जन करे। पराये का द्रोह, अन्न, स्त्री और धन से दूर रहे। बिना तीर्थ परदेश न जाय, निन्दा न करे, जंभीरी नीबू बासी अन्न, ब्रह्मण का बेचा हुआ रस, भूमि से उत्पन्न लवण, ताम्रपात्र में रखा हुआ गव्य, चमड़े के बर्तन का जल, ये सब मांस के तुल्य हैं। रजस्वला,

म्लेच्छ, पतित, व्रात्य और देव-ब्रह्मण-द्रोही से पुरुषोत्तम में सम्बन्ध न रखे। इनका और कौवे का, सूतकवाले का छूआ अन्न और दो बेर पकाया हुआ तथा जला हुआ अन्न न खाय। प्रतिपदा से पूर्णिमा तक कूष्माण्ड आदिक का वर्जन करे और जो वस्तु छोड़ै वह वस्तु ब्रह्मण को दान दे। केवल दूध पीकर वा घी पीकर फलाहार करके वा अयाचित खाकर उपवास, एक नक्त वा नक्त व्रत जो बन पड़े और बिना कष्ट निबहै वह करे। शालिग्राम का पूजन करै, श्रीमद्‌भागवत सुने और सांयकाल को दीपदान करे।

राजा दृढ़धन्वा ने वाल्मीकि ऋृषि से दीपदान का माहात्म्य पूछा, इस पर वाल्मीकि जी ने कहा– प्राचीन काल में सौभाग्य नगर में एक चित्रभानु नाम राजा था और चन्द्रकला नामक उसकी रानी थी। यह राजा धन धान्य सब प्रकार से सुखी था। एक दिन इसके यहाँ अगस्त ऋृषि आए और राजा ने अपने पूर्व जन्म का वृत्तान्त पूछा। मुनि ने कहा– तुम बड़े दुष्ट मणिग्रीव नाम शूद्र थे और यह रानी तुम्हारी पतिव्रता स्त्री थी। कुकर्म में सब धन खोकर शिकार खेलकर अपनी जीविका करते थे। एक दिन घोर वन में मार्ग भूले हुए उग्रदेव नामक थके ब्राह्मण की तुम लोगों ने बड़ी सेवा किया और उनसे अपना दुःख निवेदन किया। इससे प्रसन्न होकर ऋृषि ने पुरुषोत्तम मास में दीपदान करने का उपदेश किया और मणिग्रीव ने वन में इंगुदी के तेल से दीपदान किया, जिससे भगवान् ने प्रसन्न होकर तुमको वरदान दिया और इस जन्म में तुमको सब सुख मिले।

दीपदान का माहात्म्य सुनकर दृढ़धन्वा ने पुरुषोत्तम के उद्यापन की विधि पूछी। वाल्मीकि जी ने उत्तर दिया कि कृष्णपक्ष की चतुर्दशी वा नौमी वा अष्ठमी को उद्यापन करना। तीस सपत्नीक ब्राह्मण को न्यौता देना और पंचधान्य का सर्वतोभद्र बनाकर चारों दिशा में चार कलशों पर वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध का स्थापन करना। बीच में नित्य पूजित श्री राधिका सहित श्री पुरुषोत्तम का स्थापन करना। एक वैष्णव ब्राह्मण को आचार्य और चार ब्राह्मणों को जप की वरणी देकर चारों दिशा में दीपदान करके चतुर्व्यूह का जप करना और भगवान् की पूजा करना। पंचरत्न और फल से भगवान् को भक्तिपूर्वक अर्घ्य देना।

अर्घ्य मन्त्र–

देवदेव नमस्तुभ्यं पुराणपुरुषोत्तम।
गृहाणार्घ्यं मया दत्तं राधया सहितो हरे।।
वन्दे नवघनश्यामं द्विभुजं मुरलीधरम्।
पीताम्बरधरं देवं सराधं पुरुषोत्तमम्।।

फिर तिल से **श्रीराधिकासहितपुरुषोत्तमाय नमः स्वाहा** इस मन्त्र से होम करना और तर्पण मार्जन के पीछे भगवान् का नीराजन करना।

मन्त्र–

नीराजयामि देवेशमिन्दीवरदलच्छविम्।
राधिकारमणं प्रेम्णा कोटिकन्दर्प्पसुन्दरम्।।

फिर क्षण भर भगवान् का ध्यान करना–

अन्तर्ज्योतिरनन्तरन्तरचिते सिंहासने संस्थितं
वंशीनादविमोहितं व्रजवधूवृंदावने सुन्दरम्।।
ध्यायेद्राधिकया सकौस्तुभमणिप्रद्योतितोरस्थलं
राजद्रत्नकिरीटकुण्डलधरं प्रत्यग्रपीताम्बरम्।।

फिर पुष्पांजलि देना और प्रणाम करना। मन्त्र–

नौमि नव्यघनश्यामं पीतवाससमच्युतम्।
श्रीवत्सभासितोरस्कं राधिकासहितं हरिम्।।

फिर ब्रह्मा को पूर्णपात्र दान करके गोदान करना और घृतपात्र, तिलपात्र, उमा महेश्वर, सोहागपिटारी, वस्त्र, पद इत्यादि दान करना और जो श्रीमद्‌भागवत करे तो बड़ा ही पुण्य है। पुरुषोत्तम मास में श्री भागवत दान की समता अन्य दान नहीं कर सकते।

और तीस कांसे की थाली में तीस-तीस पूआ रखकर ब्राह्मणों को दान देना। और भी अन्न दानादि जो बन पड़े वह देना। अमावस्या की रात को जागरण करके सबेरे पूजा पीठ और सोने की मूर्ति दान देना। मन्त्र–

श्रीकृष्ण जगदाधार जगदानन्ददायक।
ऐहिकामुष्मिकान् कामान् निखिलान् पूरयाशु मे।।१।।
मन्त्रहीनं क्रियाहीनं विधिहीनं जनार्द्दन।
व्रतं सम्पूर्णतां यातु त्वत्प्रसादाद्दयानिधे।।२।।

फिर जो वस्तु का त्याग किया हो, उसका यथाक्रम दान करना। यथा– नक्त व्रत में भोजन, आयाचित में स्वर्णदान, धात्री स्नान में दधि, फल न खाया होय तो फल, तेल छोड़ा होय तो घी, घी छोड़ा होय तो दूध, अन्न छोड़ा होय तो अन्न, भूमि-शयन लिया होय तो सेज, पत्र भोजन किया होय तो घी-चीनी, मौन लिया होय तो घण्टा, तिल और सोना। क्षौर न बनवाया हो तो दर्पण, जूता छोड़ा होय तो जूता, नमक छोड़ा होय तो घी, गुड़, तेल और नमक, दीपदान का नेम लिया होय तो ताँबे का दिया और कोने की बत्ती और एकान्तर उपवास किया होय तो वस्त्र सहित आठ कुम्भ दान करे। पुरुषोत्तम मास में एक अन्न भोजन करने का बड़ा पुण्य है।

वाल्मीकि जी से पूर्व जन्म का वृत्तान्त और पुरुषोत्तम-माहात्म्य सुनकर राजा स्त्री सहित वन में जाकर तपस्या करके अन्त में गोलोक में गया।

नारायण नारदजी से कहते हैं कि कन्दर्प नामक ब्राह्मण बड़ा पापी था, जन्म भर में केवल एक वैश्य को पुरुषोत्तम की पूजा करते दर्शन किया था और कोई पुण्य नहीं किया था। इसी पाप से एक जन्म में प्रेत और दूसरे में वह बन्दर हुआ परन्तु पुरुषोत्तम के पूजा के पुण्य से इन्द्रनिर्मित मृगतीर्थ पर उसका निवास हुआ और किसी समय पुरुषोत्तम मास में एक बेर उसने दुःखित होकर तीन दिन तक कुछ न खाया, न पीया और उसी तीर्थ पर प्राण त्याग किया और पुरुषोत्तम के प्रभाव से अन्त में गोलोक गया।

नारदजी के प्रश्न पर श्रीनारायण दिनचर्य्या कहते हैं।

प्रातःकाल की क्रिया समाप्त करके पंचभूत देव पितृ बलि देकर अतिथि को भोजन कराकर दो वस्त्र से अकेले एक पात्र में पूर्वापर आचमन संयुक्त भोजन करना। भोजन के पीछे पान खाकर भगवान् के ध्यानपूर्वक भक्तिशास्त्र का विचार करना। तीसरे पहर धर्माविरुद्ध व्यवहार करना। साँझ को तीर्थ पर देहशुद्धि पूर्वक संध्या करके दीपदान करके भगवान् का स्मरण करके शयन करना।

इसके पीछे नारायण ने पतिव्रता के धर्म और पुरुषोत्तम की विशेष महिमा कहा। और विधान किया कि –

गोवर्धनधरं वन्दे गोपालं गोपरूपिणम्।
गोकुलोत्सवमीशानं गोविन्दं गोपिकाप्रियम्।।१।।

इस मन्त्र का उपरुषोत्तम मास में बार-बार जप करना।

दोहा–

श्री पुरुषोत्तम पद सुमिरि,
धारि हृदय आनन्द।
यह पुरुषोत्तम विधि लिखी,
कविवर श्री हरिचन्द।।१।।
प्रेम पियारे प्रेमनिधि,
प्रेमिन-जीवन-प्रान।
तिनके पद अरपन कियो,
यह मलमास-विधान।।२।।

इति श्री बृहन्नारदीय पुराण से संगृहीत पुरुषोत्तम-माहात्म्य समाप्त हुआ।

पाठकीय-प्रतिक्रिया

इधर कुछ अंकों से मैं धर्मायण की पाठिका रही हूँ। धर्म के व्यापक स्वरूप की परिभाषा मुझे यहाँ मिली है। वर्तमान यथार्थवाद के नाम पर नग्न चित्रण की होड़ में इस तरह की पत्रिका शायद अकेली है। खासकर मेरे लिए तो हाल के दिनों में यह वरदान-सी साबित हुई है। इससे मुझे अपने व्यक्तिगत जीवन में नई राह मिली है।

संस्कृत काव्य **भ्रूण-पंचाशिका** पढ़कर मैं खुद एक 'पाप' नहीं करने का फैसला ले चुकी हूँ। कवि और सम्पादक इसके लिए पुण्य के भागी होंगे; ऐसा मुझे विश्वास है। क्या ऐसा नहीं हो सकता कि इसे अलग से प्रकाशित किया जाए? तुलसीदास के बारे में भी बहुत जानकारी इकट्‌ठी मिली। पत्रिका समय से निकले, इसके लिए प्रयास करेंगे। इस अंक की छपाई अच्छी नहीं लगी।

वार्षिक ग्राहक बनना चाहती हूँ, इसके लिए क्या व्यवस्था है, यह पत्रिका के द्वारा ही सही जानकारी देने की कृपा करेंगे।

रीता सिन्हा, शिक्षिका,
मोलदिथार टोला, मोकामा।

* * *

गर्भस्थ कन्या शिशुओं की भ्रूणहत्या जघन्य अपराध है। इसकी सर्वत्र भर्त्सना हो रही है। आपने इस ज्वलन्त प्रसंग पर '**भ्रूण-पंचाशिका**' द्वारा अपनी मार्मिक अभिव्यक्ति प्रस्तुत की है। आपका यह सद्प्रयास सर्वथा सराहनीय है।

सुप्रसिद्ध पत्रिका 'धर्मायण' जिसके आप यशस्वी प्रधान सम्पादक हुए हैं। उसके विगत तीन अंकों में प्रकाशित आपकी रचना ने मुझे बेहद प्रभावित किया है। देवभाषा संस्कृत में रची आपकी चतुष्पदी और हिन्दी में आपके ही द्वारा प्रस्तुत उसके अनुवाद की प्रसंशा में शाब्दिक अभिव्यक्ति फीकी होगी। इसका रसास्वादन कर मैं धन्य हुआ, एतद्‌र्थ आपको मेरी शतशः बधाइयाँ।

परमानन्द दोषी
विशेष कार्य पदाधिकारी,
बिहार राज्य स० भूमि विकास बैंक,
बुद्ध-मार्ग, पटना-२००००१

* * *

भाग्यहीन

ध्यायन्तस्त्वां कतिचन भवं दुस्तरं निस्तरन्ति त्वत्पादाब्जं विधिवदितरे नित्यमाराधयन्तः।
अन्ये वर्णाश्रमविधिरताः पालयन्तस्त्वदाज्ञां सर्वं हित्वा भवजलनिधावेष मज्जामि घोरे।।

हे शम्भो! कुछ लोग आपके रूप का ध्यान कर दुस्तर भवसागर को पार कर जाते हैं, कुछ लोग आपके चरणकमलों की नित्य आराधना करते हैं, कुछ लोग वर्णाश्रम-धर्म के रूप में आपकी आज्ञा का पालन करते हैं और मैं सब कुछ छोड़कर इस घोर संसार-सागर में डुबकी लगा रहा हूँ।

f f

व्रत-त्यौहार

जुलाई २००४ से सितम्बर २००४ तक	दिन	दिनांक
आषाढ़ी पूर्णिमा /गुरुपूर्णिमा	शुक्रवार	०२-७-२००४
संकष्टी गणेशचतुर्थी /श्रावण सोमवारव्रत	सोमवार	०५-७-२००४
श्रावण सोमवारव्रत	सोमवार	१२-७-२००४
कामदा एकादशी (सबकी)	मंगलवार	१३-७-२००४
शिवरात्रि व्रत	बृहस्पतिवार	१५-७-२००४
श्रावणी अमावस्या	शनिवार	१७-७-२००४
श्रावण सोमवारव्रत	सोमवार	१९-७-२००४
वैनायकी गणेश चतुर्थीव्रत	बुधवार	२१-७-२००४
श्रावण सोमवारव्रत	सोमवार	२६-७-२००४
पुरुषोत्तमी एकादशी (सबकी)	बुधवार	२८-७-२००४
एकादशी व्रत की पारणा (प्रातः ६:४९ तक)	बृहस्पतिवार	२९-७-२००४
पुरुषोत्तमी पूर्णिमा	शनिवार	३१-७-२००४
श्रावण सोमवार व्रत	सोमवार	२-८-२००४
संकष्टी गणेशचतुर्थी व्रत	मंगलवार	३-८-२००४
श्रावण सोमवार व्रत	सोमवार	९-८-२००४
पुरुषोत्तमी एकादशी (सबकी)	बुधवार	११-८-२००४
शिवरात्रि व्रत	शनिवार	१४-८-२००४
भारतीय स्वतन्त्रता-दिवस	रविवार	१५-८-२००४
श्रावण सोमवार व्रत /सोमवती आमावस्या (प्रातः ६:२९ तक)	सोमवार	१६-८-२००४
वैनायकी गणेशचतुर्थी व्रत	बृहस्पतिवार	१९-८-२००४
नागपंचमी	शुक्रवार	२०-८-२००४
गोस्वामी तुलसीदासजयन्ती	रविवार	२२-८-२००४
श्रावण सोमवारव्रत	सोमवार	२३-८-२००४
पुत्रदा एकादशी (सबकी)	बृहस्पतिवार	२६-८-२००४
रक्षाबन्धन /श्रावणी पूर्णिमा /संस्कृत-दिवस /सोमवारव्रत	सोमवार	३०-८-२००४
संकष्टी गणेशचतुर्थी व्रत /बहुलाव्रत	बृहस्पतिवार	२-९-२००४
श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी (सबकी)	सोमवार	६-९-२००४
जया एकादशी (सबकी)	शुक्रवार	१०-९-२००४
शिवरात्रि	रविवार	१२-९-२००४
भाद्रपदी अमावस्या	मंगलवार	१४-९-२००४
हरितालिका (तीज) व्रत	शुक्रवार	१७-९-२००४
वरद गणेशचतुर्थी व्रत	शनिवार	१८-९-२००४
ऋषिपंचमी व्रत	रविवार	१९-९-२००४
पद्मा एकादशी (सबकी)	शुक्रवार	२४-९-२००४
अनन्त चतुर्दशी व्रत	सोमवार	२७-९-२००४
भाद्रपदी पूर्णिमा	मंगलवार	२८-९-२००४
शब-ए-बरात	बृहस्पतिवार	३०-९-२००४

वेदवाणी

(गतांक से आगे)

अवपतन्तीरवदन् दिव ओषधयस्परि।
यं जीवमश्नवामहै न स रिष्यति पूरुषः।।

जब स्वर्गलोक से ओषधियाँ धरती पर आ रही थीं, तब उन्होंने कहा था कि हम जिस व्यक्ति को प्रभावित करेंगी, वह रोगों से पीड़ित नहीं होगा।

या ओषधीः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः।
तासां त्वमस्युत्तमारं कामाय शं हृदे।।

जो ओषधियाँ सोम की रानियाँ हैं, जो सैकड़ों गुण-दोषों को जाननेवाली हैं, उनमें तुम उत्तम हो। हमारी कामना के लिए एवं हृदय को सुख प्रदान करने में तुम सामर्थ्यशालिनी हो।

या ओषधीः सोमराज्ञीर्विष्ठिताः पृथिवीमनु।
बृहस्पतिप्रसूता अस्यै सं दत्त वीर्यम्।।

जो ओषधियाँ सोम की रानियाँ हैं, जो पृथ्वी पर विभिन्न स्थानों में विद्यामान हैं; वे बृहस्पति की प्रेरणा से इसे शक्ति दें।

मा वो रिषत् खनिता यस्मै चाहं खनामि वः।
द्विपच्चतुष्पदस्माकं सर्वमस्त्वनातुरम्।।

हे ओषधियो! तुम्हें खोदकर जमीन से निकालनेवाला में नाश को प्राप्त न होऊँ और जसके लिए मैं तुम्हें खोद रहा हूँ, वह रोगी भी नष्ट न हो। हमारे दो पाए और चौपाए (पत्नी, पुत्र, सेवक और पशु वगैरह) पीड़ित न हों।

याश्चेदमुपशृण्वन्ति याश्च दूरं परागताः।
सर्वाः संगत्य वीरुधोऽस्यै सं दत्त वीर्यम्।।

हे लताओ! तुम सबमें से जो भी (प्रार्थना) सुन रही हैं, या जो दूर हैं (उनकी अवस्थिति इतनी दूरी पर है कि आवाज न जा सके), वे सभी साथ मिलकर इसे शक्ति प्रदान करें।

ओषधयः सं वदन्ते सोमेन सह राज्ञा।
यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्तं राजन् पारयामसि।।

अपने राजा सोम के साथ ओषधियाँ यह प्रतिज्ञा करती हैं कि यह वैद्य (ब्राह्मण) जिसके लिए हमें सता रहा है, हे राजन् (हे सोम)! हम उसके कार्य को पूरा करेंगी।

त्वमुत्तमास्योषधे तव वृक्षा उपस्तयः।
उपस्तिरस्तु सो३ स्माकं यो अस्माँ अभिदासति।।

हे ओषधि! तुम सबसे उत्तम हो। सभी वृक्ष तुम्हारे परिचारक हैं। जो हमें वश में करना चाहता है, वह हमारे वश में हो जाए।

‘महावीर मन्दिर प्रकाशन’ के नव प्रकाशित एवं प्रकाशमान ग्रन्थ

‘महावीर मन्दिर-प्रकाशन’ अपनी गौरवमयी परम्परा के अन्तर्गत अनेक उत्तम-उत्तम ग्रन्थों का प्रकाशन करता आ रहा है। इसने अपनी ग्रन्थमाला के अठारहवें पुष्प के रूप में जगद्गुरु रामानन्दाचार्य-कृत ‘श्रीरामार्चनपद्धति’ का इसी वर्ष प्रकाशन किया है, जो कि अत्यन्त दुर्लभ है। इस पद्धति में ध्यान, पूर्व पूजन, श्रीरामरक्षास्तोत्र, मूलरामायण, ब्रह्मा-कृत श्रीरामस्तुति, शंकराचार्य-कृत, राम-भुजंगप्रयात-स्तोत्र, श्रीराम-अष्टोत्तर शतनाम, परमहंस ब्रह्मानन्द स्वामी द्वारा प्रणीत आरती एवं गोस्वामी तुलसीदास-कृत (विनयपत्रिका से) आरती के साथ-साथ महत्त्वपूर्ण टिप्पणियों के साथ परिशिष्ट भी संकलित है।

श्रीरामार्चनपद्धति स्वामी रामानन्द द्वारा रचित श्रीराम-पूजन की महनीय कृति है, जो **वैष्णव-माताब्ज-भास्कर** का परिशिष्ट है। इसमें जागरण-स्तोत्र, न्यास, श्रीमन्त्रराज-न्यास, विरजापूजा, आसन / भूमि-पूजा, पीठपाद-पूजा, पीठवाहक-पूजा, यन्त्र-पूजा, श्रीसीताराम-पूजन, आभूषण-पूजा, अस्त्र-शस्त्र-पूजा, परिजन-पूजा, परिकर-पूजा, अंगदेवता-पूजा, श्रीराम-पार्षदपूजा, पुष्पांजलि, राजभोग, प्रार्थना तथा शायनस्तोत्र विभूषित हैं।

यह पुस्तक रामानन्दी परम्परा को शुद्ध रूप में प्रचार-प्रसार में कीर्तिमान स्थापित करने योग्य है। हिन्दी-अनुवाद के साथ होने से इसकी उपादेयता और बढ़ गई है। यह पद्धति विद्वात्पंचक-आचार्य सीताराम चतुर्वेदी, प्रो० काशीनाथ मिश्र, आचार्य किशोर कुणाल, प्रो० कृष्णानन्द झा तथा पं० भवनाथ झा द्वारा सम्पादित एवं परिष्कृत है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन के उद्देश्य के सम्बन्ध में उपोद्घात में लिखित आचार्य किशोर कुणाल का यह कथनांश विशेष ध्यातव्य है– श्रीरामचन्द्र की पूजा की अनेक पद्धतियाँ आज उपलब्ध हैं, जो विभिन्न तथाकथित उपपुराणों एवं संहिता के आधार कही गई हैं। विगत शताब्दी के प्रारम्भ में **रामार्चा** के नाम पर कई पद्धतियों का निर्माण कुछ विद्वानों द्वारा किया गया, किन्तु इष्टदेव के प्रति समर्पणभाव से युक्त स्तुतियाँ नगण्य हैं; जिससे रामभक्तों को सन्तोष नहीं मिलता। इस स्थिति में प्रसन्नता का विषय है कि वैष्णव धर्म के स्तम्भ जगद्गुरु रामानन्दाचार्य द्वारा उपदिष्ट ‘रामार्चनद्धति’ गहन अन्वेषण के पश्चात् उपलब्ध हुई है।.....”

आगामी प्रकाशन में निम्नलिखित पुस्तकें हैं, जो शीघ्र प्रकाश में आनेवाली हैं–

(१) **बलिविमर्श–** वैदिक साहित्य, महाभारत, रामायण, पुराण, स्मृतिग्रन्थ एवं तन्त्रशास्त्र के पुष्ट प्रमाणों पर आधारित यह ग्रन्थ यज्ञ में पशुबलि का खण्डन करनेवाला है। इसमें बलि, आलम्भन और मेध का विस्तृत विवेचन भी है।

(२) **रुद्राभिषेक पद्धति–** यह ऋग्वेद के तीन रुद्रसूक्तों (११४, २.३३,७.४६) यजुर्वेद के सोलहवाँ एवं अठारहवाँ अध्याय, अथर्ववेद के ग्यारहवें खण्ड के प्रथम अनुवाक्, पंचम सूक्त, श्वेताश्वतरोपनिषद्, श्रीमद्भागवत महापुराण (८.६) का शिवस्तव, वायुपुराण (५५ वाँ अध्याय) की लिंगोद्भवस्तुति तथा शिवताण्डवस्तोत्र को लेकर आठ अध्यायों में विभक्त भगवान् शिव के अभिषेक की नवीन पद्धति है।

(३) **वाल्मीकीय रामायण–** रामायण के अनेक पाठों के आधार पर परिष्कृत एवं सानुवाद यह ग्रन्थ क्रमशः अलग-अलग काण्डों में प्रकाशित किया जा रहा है।

उपर्युक्त पुस्तकें प्रकाशित होनेके बाद आगामी योजना में हैं– जन्ममंगलानुष्ठान-पद्धति तथा श्राद्ध-पद्धति।

‘महावीर मन्दिर’ कर्मकाण्ड के सम्यक् ज्ञान के लिए प्रशिक्षण की भी व्यवस्था करने जा रहा है, जिससे जिज्ञासु जन ठीक ढंग से पूजा आदि की विधि जान सकें।

बिहार राज्य एवं वर्तमान कैंसर की स्थिति

बिहार में संक्रामक रोगों के साथ-साथ असंक्रामक रोगों में भी काफी तीव्रता से बढ़ोत्तरी हो रही है। आर्थिक रूप से देश के सबसे पिछड़े राज्य बिहार की अर्थ-व्यवस्था पर बीमारियों और रोगियों की एक बहुत बड़ी संख्या बोझ बनकर समस्या खड़ी कर रही है। कैंसर की बीमारी एक ऐसी ही समस्या है, जिसका मसला हम सबको ढूँढ़ना है, चाहे वह सरकारी तन्त्र हो या गैरसरकारी।

तम्बाकू और तम्बाकू से बने हुए पदार्थों का बढ़ता प्रचलन एवं इसके साथ-साथ दवाइयों का दुरुपयोग, ये सब ऐसी चीजें हैं जो कैंसर के मरीजों की संख्या में भयंकर रूप से वृद्धि कर रही हैं। अगर हम अपने इर्द-गिर्द नजर डालें तो पता चलेगा कि वर्तमान में कैंसर होने की दिशा में जो प्रभावित करनेवाली है, वह है बदलती जीवनशैली। देखा गया है कि जितना ही हम प्रकृति से दूर भागते हैं, प्रकृति के बनाए हुए नियमों में जितना भी परिवर्तन करते हैं, चाहे वह खान-पान हो या रहन-सहन, उतना ही कैंसर की बढ़ोत्तरी होती है।

अब हम यदि आँकड़े पर आएँ तो पूरे भारतवर्ष में प्रतिवर्ष ८ लाख कैंसर के नए रोगियों की बढ़ोत्तरी हो रही है और पाया गया है कि किसी भी समय हिन्दुस्तान में २५ लाख कैंसर के रोगी मौजूद रहते हैं। बिहार में ही करीब ७५ हजार सालाना कैंसर के नए रोगी बढ़ रहे हैं। अब देखना यह है कि क्या हम इतनी बड़ी संख्या के रोगियों को सही इलाज देने में समर्थ हैं? राज्य में अभी तीन ही सेंटर हैं, जहाँ कैंसर के रोगियों का इलाज चल रहा है। उनमें **महावीर कैंसर संस्थान** प्रमुख सेंटर के रूप में उभरा है। अभी इस अस्पताल में करीब ३४ हजार से ज्यादा कैंसर के रोगी अपना विभिन्न तरह का इलाज करा रहे हैं। और यदि सालाना आँकड़े पर जाएँ तो पिछले साल करीब १० हजार से भी ज्यादा नए कैंसर के रोगी इस अस्पताल में इलाज के लिए आए। जबकि और अस्पतालों में देखा जाए तो आनेवाले रोगियों की संख्या बिल्कुल कम है। अब सोचना पड़ता है कि ५०-६० हजार रोगी कैसे इलाज कराते हैं? पाया गया है कि इनमें से ज्यादातर रोगियों की संख्या गरीबों की होती है, जो दूर जाकर इलाज करा सकने में असमर्थ रहते हैं। इस राज्य में अभी भी कई कैंसर सेंटर की जरूरत है, ताकि ज्यादा-से-ज्यादा रोगी अपना इलाज समय पर करा सकें।

महावीर कैंसर संस्थान के अगर आँकड़े की बात करें तो सबसे ज्यादा रोगी पटना, वैशाली, मुजफ्फरपुर, बेगूसराय और सारण जिले से आते हैं। वजह दो हो सकती है– या तो ये जिले पटना से नजदीक पड़ते हैं, जिसकी वजह से रोगी पटना आ जाते हैं या इन जिलों में (सभी में) कैंसर ज्यादा हो रहा है। जब तक आबादी के आय-व्यय के आँकड़े न लिये जाएँ, तब तक यह कहना मुश्किल होगा। लेकिन एक बात जरूर है कि कुछ क्षेत्र ऐसे भी हैं, जहाँ पर कैंसर काफी बड़ी संख्या में हो रहा है।

बहुत से रोगी जो अस्पताल नहीं आ सकते हैं, उसके पीछे भी उनके परिवार की मानसिकता रहती है कि जब कैंसर हो ही गया तो इलाज कराने से क्या फायदा, जो तथ्य से बिल्कुल ही परे है। यदि समय पर कैंसर का इलाज करा लिया जाए तो पूरी तरह से ठीक हो सकता है। अगर रोग की बढ़ी अवस्था में भी सही इलाज किया जाए तो काफी वर्षों तक बीमारी को दबाकर रखा जा सकता है और मरीज एकदम तकलीफ रहित जिन्दगी जी सकता है।

जरूरत है, लोगों में इस बीमारी के प्रति जानकारी देने की तथा लोगों में जागरूकता पैदा करने की। **महावीर कैंसर संस्थान** द्वारा चलाया गया Community Oncology programme कहाँ तक इस राज्य के लोगों को इस बीमारी से निजात दिलाने में सफल हो सकेगा, यह तो समय ही बताएगा।

– महावीर कैंसर संस्थान के सौजन्य से।